वाक्यों के साथ दिया है। उनमें से तीन श्लोक नमूने के तौर पर इस प्रकार हैं— अ० १८ / प्र० १

**अन्यथानुपपन्नत्वे ननु दृष्टा सुहेतुता।**
**नाऽसति त्र्यंशकस्याऽपि तस्मात् क्लीबास्त्रिलक्षणाः॥ १३६४॥**

**अन्यथानुपपन्नत्वं यस्य तस्यैव हेतुता।**
**दृष्टान्तौ द्वावपि स्तां वा मा वा तौ हि न कारणम्॥ १३६८॥**

**अन्यथानुपपन्नत्वं यत्र तत्र त्रयेण किम्?।**
**नान्यथानुपपन्नत्वं यत्र तत्र त्रयेण किम्?॥ १३६९॥**

"इनमें से तीसरे पद्य को विक्रम की ७वीं-८वीं शताब्दी के[२२] विद्वान् **अकलङ्कदेव** ने अपने **न्यायविनिश्चय** (कारिका ३२३) में अपनाया है और **सिद्धिविनिश्चय** (प्र.६) में इसे स्वामी का **अमलालीढ पद** प्रकट किया है तथा **वादिराज** ने **न्यायविनिश्चय-विवरण** में इस पद्य को **पात्रकेसरी** से सम्बद्ध **अन्यथानुपपत्तिवार्तिक** बतलाया है।

"**धर्मकीर्ति** का समय ई० सन् ६२५ से ६५० अर्थात् विक्रम की ७वीं शताब्दी का प्रायः चतुर्थ चरण, धर्मोत्तर का समय ई० सन् ७२५ से ७५० अर्थात् विक्रम की ८वीं शताब्दी का प्रायः चतुर्थ चरण और **पात्रस्वामी** का समय विक्रम की ७वीं शताब्दी का प्रायः तृतीय चरण पाया जाता है, क्योंकि वे **अकलङ्कदेव** से कुछ पहले हुए हैं। तब **सन्मतिकार सिद्धसेन का समय वि. संवत् ६६६ से पूर्व का सुनिश्चित है**, जैसा कि अगले प्रकरण में स्पष्ट करके बतलाया जायगा। ऐसी हालत में जो सिद्धसेन सन्मति के कर्ता हैं, वे ही न्यायावतार के कर्ता नहीं हो सकते। समय की दृष्टि से दोनों ग्रन्थों के कर्ता एक-दूसरे से भिन्न होने चाहिये।

"इस विषय में पं० सुखलाल जी आदि का यह कहना है[२३] कि 'प्रो० टुची (Tousi) ने **दिग्नाग** से पूर्ववर्ती बौद्धन्याय के ऊपर जो एक निबन्ध **रॉयल एशियाटिक सोसाइटी** के जुलाई, सन् १९२९ के जर्नल में प्रकाशित कराया है, उसमें बौद्ध-संस्कृत-ग्रन्थों के चीनी तथा तिब्बती अनुवाद के आधार पर यह प्रकट किया है कि '**योगाचार्य-भूमिशास्त्र** और **प्रकरणार्यवाचा** नाम के ग्रन्थों में प्रत्यक्ष की जो व्याख्या दी है, उसके

---

२२. विक्रमसंवत् ७०० में अकलङ्कदेव का बौद्धों के साथ महान् वाद हुआ है, जैसा कि अकलङ्कचरित के निम्न पद्य से प्रकट है—

विक्रमार्क-शकाब्दीय-शतसप्त-प्रमाजुषि।
कालेऽकलङ्कयतिनो बौद्धैर्वादो महानभूत॥

२३. देखिए, 'सन्मति' के गुजराती संस्करण की प्रस्तावना, पृ. ४१, ४२ और अँग्रेजी संस्करण की प्रस्तावना पृ. १२-१४।

Scanned with OKEN Scanner

अनुसार प्रत्यक्ष को अपरोक्ष, कल्पनापोढ, निर्विकल्प और भूल-विना का **अभ्रान्त** अथवा **अव्यभिचारी** होना चाहिये। साथ ही अभ्रान्त तथा अव्यभिचारी शब्दों पर नोट देते हुए बतलाया है कि ये दोनों पर्यायशब्द हैं, और चीनी तथा तिब्बती भाषा के जो शब्द अनुवादों में प्रयुक्त हैं, उनका अनुवाद अभ्रान्त तथा अव्यभिचारी दोनों प्रकार से हो सकता है। और फिर स्वयं **अभ्रान्त** शब्द को ही स्वीकार करते हुए यह अनुमान लगाया है कि **धर्मकीर्ति** ने प्रत्यक्ष की व्याख्या में **अभ्रान्त** शब्द की जो वृद्धि की है, वह उनके द्वारा की गई कोई नई वृद्धि नहीं है, बल्कि **सौत्रान्तिकों** की पुरानी व्याख्या को स्वीकार करके उन्होंने **दिग्नाग** की व्याख्या में इस प्रकार से सुधार किया है। **योगाचार्य-भूमिशास्त्र असङ्ग** के गुरु **मैत्रेय** की कृति है, असङ्ग (मैत्रेय?) का समय ईसा की चौथी शताब्दी का मध्यकाल है, इससे प्रत्यक्ष के लक्षणमें **अभ्रान्त** शब्द का प्रयोग तथा अभ्रान्तपना का विचार विक्रम की पाँचवीं शताब्दी के पहले भले प्रकार ज्ञात था अर्थात् यह (अभ्रान्त) शब्द सुप्रसिद्ध था। अत: **सिद्धसेन दिवाकर** के **न्यायावतार** में प्रयुक्त हुए मात्र 'अभ्रान्त' पद पर से उसे धर्मकीर्ति के बाद का बतलाना जरूरी नहीं। उसके कर्ता सिद्धसेन को असङ्ग के बाद और धर्मकीर्ति के पहले मानने में कोई प्रकार का अन्तराय (विघ्न-बाधा) नहीं है।'

"इस कथन में **प्रो. टुची** के कथन को लेकर जो कुछ फलित किया गया है, वह ठीक नहीं है, क्योंकि प्रथम तो प्रोफेसर महाशय अपने कथन में स्वयं भ्रान्त हैं, वे निश्चयपूर्वक यह नहीं कह रहे हैं कि उक्त दोनों मूल संस्कृत ग्रन्थों में प्रत्यक्ष की जो व्याख्या दी अथवा उसके लक्षण का जो निर्देश किया है, उसमें **अभ्रान्त** पद का प्रयोग पाया ही जाता है, बल्कि साफ तौर पर यह सूचित कर रहे हैं कि मूलग्रन्थ उनके सामने नहीं, चीनी तथा तिब्बती अनुवाद ही सामने हैं और उनमें जिन शब्दों का प्रयोग हुआ है, उनका अर्थ **अभ्रान्त** तथा **अव्यभिचारि** दोनों रूप से हो सकता है। तीसरा भी कोई अर्थ अथवा संस्कृत शब्द उनका वाच्य हो सकता हो, तो उसका निषेध भी नहीं किया। दूसरे, उक्त स्थिति में उन्होंने अपने प्रयोजन के लिये जो अभ्रान्त पद स्वीकार किया है, वह उनकी रुचि की बात है न कि मूल में अभ्रान्त-पदके प्रयोग की कोई गारंटी है और इसलिये उस पर से निश्चितरूप में यह फलित कर लेना कि 'विक्रम की पाँचवी शताब्दी के पहले प्रत्यक्ष के लक्षण में **अभ्रान्त** पद का प्रयोग भले प्रकार ज्ञात तथा सुप्रसिद्ध था' फलितार्थ तथा कथन का अतिरेक है और किसी तरह भी समुचित नहीं कहा जा सकता। तीसरे, उन मूल संस्कृत ग्रन्थों में यदि **अव्यभिचारि** पद का ही प्रयोग हो, तब भी उसके स्थान पर धर्मकीर्ति ने **अभ्रान्त** पद की जो नई योजना की है, वह उसी की योजना कहलाएगी और न्यायावतार में उसका अनुसरण होने से उसके कर्ता सिद्धसेन धर्मकीर्ति के बाद के ही विद्वान्

ठहरेंगे। चौथे, **पात्रकेसरीस्वामी** के हेतुलक्षण का जो उद्धरण **न्यायावतार** में पाया जाता है और जिसका परिहार नहीं किया जा सकता, उससे सिद्धसेन का धर्मकीर्ति के बाद होना और भी पुष्ट होता है। ऐसी हालत में न्यायावतार के कर्ता सिद्धसेन को असङ्ग के बाद का और धर्मकीर्ति के पूर्व का बतलाना निरापद नहीं है, उसमें अनेक विघ्न-बाधाएँ उपस्थित होती हैं। फलतः न्यायावतार धर्मकीर्ति और पात्रस्वामी के बाद की रचना होने से उन सिद्धसेनाचार्य की कृति नहीं हो सकता, जो सन्मतिसूत्र के कर्ता हैं। जिन अन्य विद्वानों ने उसे अधिक प्राचीनरूप में उल्लेखित किया है वह मात्र **द्वात्रिंशिकाओं, 'सन्मति'** और **न्यायावतार** को एक ही सिद्धसेन की कृतियाँ मानकर चलने का फल है।" (पु.जै.वा.सू./प्रस्ता./पृ. १४१-१४४)।

"इस तरह यहाँ तक के इस सब विवेचन पर से स्पष्ट है कि **सिद्धसेन के नाम पर जो भी ग्रन्थ चढ़े हुए हैं, उनमें से सन्मतिसूत्र को छोड़कर दूसरा कोई भी ग्रन्थ सुनिश्चितरूप में सन्मतिकार की कृति नहीं कहा जा सकता,** अकेला सन्मतिसूत्र ही असपत्नभाव से अभी तक उनकी कृतिरूप में स्थित है। कल को अविरोधिनी द्वात्रिंशिकाओं में से यदि किसी द्वात्रिंशिका का उनकी कृतिरूप में सुनिश्चय हो गया, तो वह भी सन्मति के साथ शामिल हो सकेगी।" (पु.जै.वा.सू./प्रस्ता. पृ.१४४)।

## ६

## सन्मतिसूत्रकार सिद्धसेन निर्युक्तिकार भद्रबाहु से उत्तरवर्ती

"अब देखना यह है कि प्रस्तुत ग्रन्थ **सन्मति** के कर्ता **सिद्धसेनाचार्य** कब हुए हैं और किस समय अथवा समय के लगभग उन्होंने इस ग्रन्थ की रचना की है। ग्रन्थ में निर्माणकाल का कोई उल्लेख और किसी प्रशस्ति का आयोजन न होने के कारण दूसरे साधनों पर से ही इस विषयको जाना जा सकता है और वे दूसरे साधन हैं ग्रन्थ का अन्तःपरीक्षण, उसके सन्दर्भ-साहित्य की जाँच-द्वारा बाह्य प्रभाव एवं उल्लेखादि का विश्लेषण, उसके वाक्यों तथा उसमें चर्चित खास विषयों का अन्यत्र उल्लेख, आलोचन-प्रत्यालोचन, स्वीकार-अस्वीकार अथवा खण्डन-मण्डनादिक और साथ ही सिद्धसेन के व्यक्तित्व-विषयक महत्त्व के प्राचीन उद्गार। इन्हीं सब साधनों तथा दूसरे विद्वानों के इस दिशा में किये गये प्रयत्नों को लेकर मैंने इस विषय में जो कुछ अनुसंधान एवं निर्णय किया है, उसे ही यहाँ पर प्रकट किया जाता है—

"१. **सन्मति के कर्ता सिद्धसेन केवली के ज्ञान-दर्शनोपयोग-विषय में अभेदवाद के पुरस्कर्ता हैं,** यह बात पहले (पिछले प्रकरण में) बतलाई जा चुकी है। उनके इस **अभेदवाद का खण्डन** इधर दिगम्बरसम्प्रदाय में सर्वप्रथम अकलंकदेव के

Scanned with OKEN Scanner

**राजवार्त्तिक-भाष्य** में[२४] और उधर श्वेताम्बरसम्प्रदाय में सर्वप्रथम जिनभद्रक्षमाश्रमण के **विशेषावश्यक-भाष्य** तथा **विशेषणवती** नाम के ग्रन्थों में[२५] मिलता है। साथ ही तृतीय काण्ड की **'णत्थि पुढवीविसिट्ठो'** और **'दोहिं वि णएहिं णीयं'** नाम की दो गाथाएँ (५२,४९) **विशेषावश्यकभाष्य** में क्रमशः गा.नं.२१०४, २१९५ पर उद्धृत पाई जाती हैं।[२६] इसके सिवाय, विशेषावश्यकभाष्य की स्वोपज्ञटीका में[२७] **'णामाइतियं दव्वट्ठियस्स'** इत्यादि गाथा ७५ की व्याख्या करते हुए ग्रन्थकार ने स्वयं "**द्रव्यास्तिकनयावलम्बिनौ संग्रह-व्यवहारौ ऋजुसूत्रादयस्तु पर्यायनयमतानुसारिणः आचार्यसिद्धसेनाऽभिप्रायात्**" इस वाक्य के द्वारा सिद्धसेनाचार्य का नामोल्लेखपूर्वक उनके सन्मतिसूत्र-गत मत का उल्लेख किया है, ऐसा मुनि पुण्यविजय जी के मगसिर सुदि १०मी, सं० २००५ के एक पत्र से मालूम हुआ है। दोनों ग्रन्थकार विक्रम की ७वीं शताब्दी के प्रायः उत्तरार्ध के विद्वान् हैं। अकलंकदेव का विक्रम सं० ७०० में बौद्धों के साथ महान् वाद हुआ है, जिसका उल्लेख पिछले एक फुटनोट में **अकलंकचरित** के आधार पर किया जा चुका है, और जिनभद्रक्षमाश्रमण ने अपना विशेषावश्यकभाष्य शक सं० ५३१ अर्थात् वि० सं० ६६६ में बनाकर समाप्त किया है। ग्रन्थ का यह रचनाकाल उन्होंने स्वयं ही ग्रन्थ के अंत में दिया है, जिसका पता श्री जिनविजय जी को जैसलमेर भण्डार की एक अतिप्राचीन प्रति को देखते हुए चला है। **ऐसी हालत में सन्मतिकार सिद्धसेन का समय विक्रम सं० ६६६ से पूर्व का सुनिश्चित है,** परन्तु वह पूर्व का समय कौन-सा है? **कहाँ तक उसकी कम से कम सीमा है? यही आगे विचारणीय है।**" (पु.जै.वा.सू./ प्रस्ता./ पृ. १४४-१४५)।

"२. **सन्मतिसूत्र में उपयोगद्वय के क्रमवाद का जोरों के साथ खण्डन किया गया है,** यह बात भी पहले बतलाई जा चुकी तथा मूलग्रन्थ के कुछ वाक्यों को उद्धृत करके दर्शाई जा चुकी है। उस क्रमवाद का पुरस्कर्ता कौन है और उसका समय क्या है? यह बात यहाँ खास तौर से जान लेने की है। **हरिभद्रसूरि** ने **नन्दिवृत्ति** में तथा **अभयदेवसूरि** ने **'सन्मति'** की टीका में यद्यपि जिनभद्रक्षमाश्रमण को क्रमवाद के पुरस्कर्तारूप में उल्लेखित किया है, परन्तु वह ठीक नहीं है, क्योंकि वे तो सन्मतिकार

---

२४. तत्त्वार्थराजवार्तिक ६/१०/वार्तिक १४-१६।

२५. विशेषावश्यकभाष्य/गा. ३०८९ से (कोट्याचार्य की वृत्ति में गा. ३७२९ से) तथा विशेषणवती गा. १८४ से २८०/ सन्मति-प्रस्तावना/ पृ.७५।

२६. उद्धरण-विषयक विशेष ऊहापोह के लिये देखिए, 'सन्मति'- प्रस्तावना/पृ. ६८, ६९।

२७. इस टीका के अस्तित्व का पता हाल में मुनि पुण्यविजय जी को चला है। देखिये, श्री आत्मानन्दप्रकाश पुस्तक ४५/ अंक ८ / पृ. १४२ पर उनका तद्विषयक लेख। (पु. जै. वा. सू./ प्रस्ता. / पृ. १४४)।

Scanned with OKEN Scanner

के उत्तरवर्ती हैं, जबकि होना चाहिये कोई पूर्ववर्ती। यह दूसरी बात है कि उन्होंने क्रमवाद का जोरों के साथ समर्थन और व्यवस्थित रूप से स्थापन किया है, संभवत: इसी से उनको उस वाद का पुरस्कर्ता समझ लिया गया जान पड़ता है। अन्यथा, **क्षमाश्रमण जी स्वयं अपने निम्न वाक्यों द्वारा यह सूचित कर रहे हैं कि उनसे पहले युगपद्वाद, क्रमवाद तथा अभेदवाद के पुरस्कर्ता हो चुके हैं—**

**केई भणंति जुगवं जाणइ पासइ य केवली णियमा।**
**अण्णे एगंतरियं इच्छंति सुओवएसेणं॥ १८४॥**

**अण्णे ण चेव वीसुं दंसणमिच्छंति जिणवरिंदस्स।**
**जं चि य केवलणाणं तं चि य से दरिसणं विंति॥ १८५॥**

विशेषणवती।

"पं० सुखलाल जी आदि ने भी कथन-विरोध को महसूस करते हुए प्रस्तावना में यह स्वीकार किया है कि जिनभद्र और सिद्धसेन से पहले क्रमवाद के पुरस्कर्तारूप में कोई विद्वान् होने ही चाहिये, जिनके पक्ष का '**सन्मति**' में खण्डन किया गया है, परन्तु उनका कोई नाम उपस्थित नहीं किया। जहाँ तक मुझे मालूम है, वे विद्वान् निर्युक्तिकार भद्रबाहु होने चाहिये, जिन्होंने आवश्यकनिर्युक्ति के निम्न वाक्यद्वारा क्रमवाद की प्रतिष्ठा की है—

**णाणंमि दंसणंमि अ इत्तो एगयरयंमि उवजुत्ता।**
**सव्वस्स केवलिस्सा ( स्स वि ) जुगवं दो णत्थि उवओगा॥ ९७८॥**

"ये निर्युक्तिकार भद्रबाहु श्रुतकेवली न होकर द्वितीय भद्रबाहु हैं, जो अष्टाङ्गनिमित्त तथा मन्त्रविद्या के पारगामी होने के कारण **नैमित्तिक**[२८] कहे जाते हैं, जिनकी कृतियों में **भद्रबाहुसंहिता** और **उपसग्गहरस्तोत्र** के भी नाम लिये जाते हैं और जो **ज्योतिर्विद वराहमिहिर** के सगे भाई माने जाते हैं। इन्होंने **दशाश्रुतस्कन्ध-निर्युक्ति** में स्वयं **अन्तिम श्रुतकेवली भद्रबाहु** को **प्राचीन** विशेषण के साथ नमस्कार किया है,[२९] **उत्तराध्ययननिर्युक्ति** में **मरणविभक्ति** के सभी द्वारों का क्रमश: वर्णन करने के अनन्तर लिखा है कि

---

२८. पावयणी १ धम्मकहा २ वाई ३ णेमित्तिओ ४ तवस्सी ५ य।
विज्जा ६ सिद्धो ७ य कई ८ अट्ठेव पभावगा भणिया॥ १॥
अजरक्ख १ नंदिसेणो २ सिरिगुत्तविणेय ३ भद्दबाहू ४ य।
खवग ५ ऽज्जखवुड ६ समिया ७ दिवायरो ८ वा इहाऽऽहरणा॥ २॥
'छेदसूत्रकार अने निर्युक्तिकार' लेख में उद्धृत।

२९. वंदामि भद्दबाहुं पाईणं चरिमसगलसुयणाणिं।
सुत्तस्स कारगमिसिं दसासु कप्पे य ववहारे॥ १॥

"पदार्थों को सम्पूर्ण तथा विशदरीति से जिन (केवलज्ञानी) और चतुर्दशपूर्वी[३०] (श्रुतकेवली) ही कहते हैं, कह सकते हैं" और **आवश्यक** आदि ग्रन्थों पर लिखी गई अनेक **निर्युक्तियों** में **आर्यवज्र, आर्यरक्षित, पादलिप्ताचार्य, कालिकाचार्य** और **शिवभूति** आदि कितने ही ऐसे आचार्यों के नामों, प्रसङ्गों, मन्तव्यों अथवा तत्सम्बन्धी अन्य घटनाओं का उल्लेख किया गया है, जो **भद्रबाहु श्रुतकेवली** के बहुत कुछ बाद हुए हैं, किसी-किसी घटना का समय तक भी साथ में दिया है; जैसे **निह्नवों** की क्रमशः उत्पत्ति का समय वीरनिर्वाण से ६०९ वर्ष बाद तक का बतलाया है। ये सब बातें और इसी प्रकार की दूसरी बातें भी निर्युक्तिकार भद्रबाहु को श्रुतकेवली बतलाने के विरुद्ध पड़ती हैं, भद्रबाहु श्रुतकेवली द्वारा उनका उस प्रकार से उल्लेख तथा निरूपण किसी तरह भी नहीं बनता। इस विषय का सप्रमाण विशद एवं विस्तृत विवेचन मुनि पुण्यविजय जी ने आज से कोई सात वर्ष पहले अपने '**छेदसूत्रकार और निर्युक्तिकार**' नाम के उस गुजराती लेख में किया है, जो '**महावीर-जैनविद्यालय-रजत-महोत्सव-ग्रन्थ**' में मुद्रित है।[३१] साथ ही यह भी बतलाया है कि **तित्थोगालिप्रकीर्णक, आवश्यकचूर्णि, आवश्यक-हारिभद्रीया टीका, परिशिष्टपर्व** आदि प्राचीन मान्य ग्रन्थों में जहाँ चतुर्दशपूर्वधर भद्रबाहु (श्रुतकेवली) का चरित्र वर्णन किया गया है, वहाँ द्वादशवर्षीय दुष्काल--- छेदसूत्रों की रचना आदि का वर्णन तो है, परन्तु वराहमिहिर का भाई होना, निर्युक्तिग्रन्थों, उपसर्गहरस्तोत्र, भद्रबाहुसंहितादि ग्रन्थों की रचना से तथा नैमित्तिक होने से सम्बन्ध रखनेवाला कोई उल्लेख नहीं है। इससे छेदसूत्रकार भद्रबाहु और निर्युक्ति आदि के प्रणेता भद्रबाहु एक दूसरे से भिन्न व्यक्तियाँ हैं।" (पु.जै.वा.सू./प्रस्ता./पृ.१४५-१४६)।

## ७

## सन्मतिसूत्रकार सिद्धसेन का समय छठी और ७वीं शती ई० का मध्य

"इन **निर्युक्तिकार भद्रबाहु** का समय विक्रम की छठी शताब्दी का प्रायः मध्यकाल है, क्योंकि इनके समकालीन सहोदर भ्राता **वराहमिहिर** का यही समय सुनिश्चित है,

---

३०. सव्वे एए दारा मरणविभत्तीइं वण्णिया कमसो।
सगलणिउणे पयत्थे जिणचउदसपुव्विं भासते॥ २३३॥

३१. "इससे भी कई वर्ष पहले आपके गुरु मुनि श्री चतुरविजय जी ने श्रीविजयानन्दसूरीश्वर-जन्मशताब्दि-स्मारकग्रन्थ में मुद्रित अपने 'श्रीभद्रबाहुस्वामी' नामक लेख में इस विषय को प्रदर्शित किया था और यह सिद्ध किया था कि निर्युक्तिकार भद्रबाहु श्रुतकेवली से भिन्न द्वितीय भद्रबाहु हैं और वराहमिहर के सहोदर होने से उनके समकालीन हैं। उनके इस लेख का अनुवाद अनेकान्त वर्ष ३ / किरण १२ में प्रकाशित हो चुका है।" (पु.जै.वा.सू./ प्रस्ता./ पृ. १४६)।

Scanned with OKEN Scanner

उन्होंने अपनी **पञ्चसिद्धान्तिका** के अन्त में, जो कि उनके उपलब्ध ग्रन्थों में अन्त की कृति मानी जाती है, अपना समय स्वयं निर्दिष्ट किया है और वह है शक संवत् ४२७ अर्थात् विक्रम संवत् ५६२। यथा—

**सप्ताश्विवेदसंख्यं शककालमपास्य चैत्रशुक्लादौ।**
**अर्धास्तमिते भानौ यवनपुरे सौम्यदिवसाद्ये॥ ८॥**

"जब निर्युक्तिकार भद्रबाहु का उक्त समय सुनिश्चित हो जाता है, तब यह कहने में कोई आपत्ति नहीं रहती कि **सन्मतिकार सिद्धसेन के समय की पूर्व सीमा विक्रम की छठी शताब्दी का तृतीय चरण है** और उन्होंने क्रमवाद के पुरस्कर्ता उक्त भद्रबाहु अथवा उनके अनुसर्ता किसी शिष्यादि के क्रमवाद-विषयक कथन को लेकर ही '**सन्मति**' में उसका खण्डन किया है।

"**इस तरह सिद्धसेन के समय की पूर्व सीमा विक्रम की छठी शताब्दी का तृतीय चरण और उत्तर सीमा विक्रम की सातवीं शताब्दी का तृतीय चरण (वि० सं० ५६२ से ६६६) निश्चित होती है।**" इन प्राय: सौ वर्ष के भीतर ही किसी समय सिद्धसेन का ग्रन्थकाररूप में अवतार हुआ और यह ग्रन्थ बना जान पड़ता है। (पु.जै.वा.सू./प्रस्ता./पृ. १४५-१४७)।

३. "सिद्धसेन के समय-सम्बन्ध में पं० सुखलाल जी संघवी की जो स्थिति रही है, उसको ऊपर बतलाया जा चुका है। उन्होंने अपने पिछले लेख में, जो '**सिद्धसेनदिवाकरना समयनो प्रश्न**' नाम से 'भारतीयविद्या' के तृतीय भाग (श्रीबहादुरसिंह जी सिंघी स्मृतिग्रन्थ) में प्रकाशित हुआ है, अपनी उस गुजराती प्रस्तावना-कालीन मान्यता को, जो 'सन्मति' के अँग्रेजी संस्करण के अवसर पर फोरवर्ड (foreword)[३२] लिखे जाने के पूर्व कुछ नये बौद्धग्रन्थों के सामने आने के कारण बदल गई थी और जिसकी फोरवर्ड में सूचना की गई है, फिर से निश्चित रूप दिया है अर्थात् विक्रम की पाँचवीं शताब्दी को ही सिद्धसेन का समय निर्धारित किया है और उसी को अधिक सङ्गत बतलाया है। अपनी इस मान्यता के समर्थन में उन्होंने जिन दो प्रमाणों का उल्लेख किया है, उनका सार इस प्रकार है, जिसे प्राय: उन्हीं के शब्दों के अनुवादरूप में सङ्कलित किया गया है—

"(प्रथम), **जिनभद्रक्षमाश्रमण** ने अपने महान् ग्रन्थ **विशेषावश्यकभाष्य** में, जो विक्रम संवत् ६६६ में बनकर समाप्त हुआ है, और लघुग्रन्थ **विशेषणवती** में सिद्धसेन

३२. फोरवर्ड के लेखकरूप में यद्यपि नाम 'दलसुख मालवणिया' का दिया हुआ है, परन्तु उसमें दी हुई उक्त सूचना को पण्डित सुखलाल जी ने उक्त लेख में अपनी ही सूचना और अपना ही विचार-परिवर्तन स्वीकार किया है। (पु.जै.वा.सू./प्रस्ता./पृ. १४७)।

Scanned with OKEN Scanner

दिवाकर के **उपयोगाऽभेदवाद** की तथैव दिवाकर की कृति **सन्मतितर्क** के टीकाकार मल्लवादी के **उपयोग-यौगपद्यवाद** की विस्तृत समालोचना की है। इससे तथा मल्लवादी के द्वादशारनयचक्र के उपलब्ध प्रतीकों में दिवाकर का सूचन मिलने और जिनभद्रगणी का सूचन न मिलने से मल्लवादी जिनभद्र से पूर्ववर्ती और सिद्धसेन मल्लवादी से भी पूर्ववर्ती सिद्ध होते हैं। मल्लवादी को यदि विक्रम की छठी शताब्दी के पूर्वार्ध में मान लिया जाय, तो सिद्धसेन दिवाकर का समय जो पाँचवी शताब्दी निर्धारित किया गया है, वह अधिक सङ्गत लगता है।

"(द्वितीय) **पूज्यपाद देवनन्दी** ने अपने **जैनेन्द्रव्याकरण** के **'वेत्तेः सिद्धसेनस्य'** इस सूत्र में सिद्धसेन के मतविशेष का उल्लेख किया है और वह यह है कि सिद्धसेन के मतानुसार **'विद्'** धातु के **'र्'** का आगम होता है, चाहे वह धातु सकर्मक ही क्यों न हो। देवनन्दी का यह उल्लेख बिलकुल सच्चा है, क्योंकि दिवाकर की जो कुछ थोड़ी- सी संस्कृत कृतियाँ बची हैं, उनमें से उनकी **नवमी द्वात्रिंशिका** के २२वें पद्य में **'विद्रतेः'** ऐसा **'र्'** आगमवाला प्रयोग मिलता है। अन्य वैयाकरण जब **'सम्'** उपसर्ग पूर्वक और अकर्मक **'विद्'** धातु के **'र्'** आगम स्वीकार करते हैं, तब सिद्धसेन ने अनुपसर्ग और सकर्मक **'विद्'** धातु का **'र्'** आगमवाला प्रयोग किया है। इसके सिवाय, **देवनन्दी पूज्यपाद** की **सर्वार्थसिद्धि** नामकी तत्त्वार्थ-टीका के सप्तम अध्यायगत १३वें सूत्र की टीका में **सिद्धसेन दिवाकर** के एक पद्य का अंश **'उक्तं च'** शब्द के साथ उद्धृत पाया जाता है और वह है **'वियोजयति चासुभिर्न च वधेन संयुज्यते।'** यह पद्यांश उनकी तीसरी द्वात्रिंशिका के १६वें पद्य का प्रथम चरण है। पूज्यपाद देवनन्दी का समय वर्तमान मान्यतानुसार विक्रम की छठी शताब्दी का पूर्वार्ध है अर्थात् पाँचवीं शताब्दी के अमुक भाग से छठी शताब्दी के अमुक भाग तक लम्बा है। इससे सिद्धसेन दिवाकर की पाँचवीं शताब्दी में होने की बात, जो अधिक सङ्गत कही गई है, उसका खुलासा हो जाता है। दिवाकर को देवनन्दी से पूर्ववर्ती या देवनन्दी के वृद्ध समकालीनरूप में मानिये, तो भी उनका जीवनसमय पाँचवीं शताब्दी से अर्वाचीन नहीं ठहरता।

"इनमें से प्रथम प्रमाण तो वास्तव में कोई प्रमाण ही नहीं है, क्योंकि वह 'मल्लवादी को यदि विक्रम की छठी शताब्दी के पूर्वार्ध में मान लिया जाय तो' इस भ्रान्त कल्पना पर अपना आधार रखता है। परन्तु क्यों मान लिया जाय अथवा क्यों मान लेना चाहिये, इसका कोई स्पष्टीकरण साथ में नहीं है। मल्लवादी का जिनभद्र से पूर्ववर्ती होना प्रथम तो सिद्ध नहीं है, सिद्ध होता भी, तो उन्हें जिनभद्र के समकालीन वृद्ध मानकर अथवा २५ या ५० वर्ष पहले मानकर भी उस पूर्ववर्तित्व को चरितार्थ किया जा सकता है, उसके लिये १०० वर्ष से भी अधिक समय पूर्व की बात मान लेने की कोई जरूरत नहीं रहती। परन्तु वह सिद्ध ही नहीं है, क्योंकि उनके जिस

**उपयोग-यौगपद्यवाद** की विस्तृत समालोचना जिनभद्र के दो ग्रन्थों में बतलाई जाती है, उनमें कहीं भी **मल्लवादी** अथवा उनके किसी ग्रन्थ का नामोल्लेख नहीं है, होता तो पण्डितजी उस उल्लेखवाले अंश को उद्धृत करके ही सन्तोष धारण करते, उन्हें यह तर्क करने की जरूरत ही न रहती और न रहनी चाहिये थी कि "मल्लवादी के **द्वादशारनयचक्र** के उपलब्ध प्रतीकों में दिवाकर का सूचन मिलने और जिनभद्र का सूचन न मिलने से मल्लवादी जिनभद्र से पूर्ववर्ती हैं।" यह तर्क भी उनकी अभीष्ट-सिद्धि में कोई सहायक नहीं होता, क्योंकि एक तो किसी विद्वान् के लिये यह लाजिमी नहीं कि वह अपने ग्रन्थ में पूर्ववर्ती अमुक-अमुक विद्वानों का उल्लेख करे ही करे। दूसरे, **मूल द्वादशारनयचक्र** के जब कुछ प्रतीक ही उपलब्ध हैं, वह पूरा ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है, तब उसके अनुपलब्ध अंशों में भी जिनभद्र का अथवा उनके किसी ग्रन्थादिक का उल्लेख नहीं, इसकी क्या गारण्टी? गारण्टी के न होने और उल्लेखोपलब्धि की सम्भावना बनी रहने से मल्लवादी को जिनभद्र का पूर्ववर्ती बतलाना तर्कदृष्टि से कुछ भी अर्थ नहीं रखता। तीसरे, **ज्ञान-बिन्दु** की परिचयात्मक प्रस्तावना में **पण्डित सुखलाल जी** स्वयं यह स्वीकार करते हैं कि "अभी हमने उस सारे **सटीक नयचक्र** का अवलोकन करके देखा, तो उसमें कहीं भी केवलज्ञान और केवलदर्शन (उपयोगद्वय) के सम्बन्ध में प्रचलित उपर्युक्त वादों (**क्रम, युगपत्** और **अभेद**) पर थोड़ी भी चर्चा नहीं मिली। यद्यपि **सन्मतितर्क** की मल्लवादि-कृत-टीका उपलब्ध नहीं है, पर जब मल्लवादी अभेदसमर्थक दिवाकर के ग्रन्थ पर टीका लिखें, तब यह कैसे माना जा सकता है कि उन्होंने दिवाकर के ग्रन्थ की व्याख्या करते समय उसी में उनके विरुद्ध अपना **युगपत्-पक्ष** किसी तरह स्थापित किया हो। इस तरह जब हम सोचते हैं, तब यह नहीं कह सकते हैं कि **अभयदेव** के युगपद्वाद के पुरस्कर्तारूप से **मल्लवादी** के उल्लेख का आधार **नयचक्र** या उनकी सन्मतिटीका में से रहा होगा।" साथ ही, अभयदेव ने सन्मतिटीका में **विशेषणवती** की "केई **भणंति जुगवं जाणइ पासइ य केवली णियमा**" इत्यादि गाथाओं को उद्धृत करके उनका अर्थ देते हुए '**केई**' पद के वाच्यरूप में **मल्लवादी** का जो नामोल्लेख किया है और उन्हें **युगपद्वाद** का पुरस्कर्ता बतलाया है, उनके उस उल्लेख की अभ्रान्तता पर सन्देह व्यक्त करते हुए, पण्डित सुखलाल जी लिखते हैं—"अगर अभयदेव का उक्त उल्लेखांश अभ्रान्त एवं साधार है, तो अधिक से अधिक हम यही कल्पना कर सकते हैं कि मल्लवादी का कोई अन्य युगपत्-पक्ष समर्थक छोटा-बड़ा ग्रन्थ अभयदेव के सामने रहा होगा अथवा ऐसे मन्तव्यवाला कोई उल्लेख उन्हें मिला होगा।" और यह बात ऊपर बतलाई ही जा चुकी है कि अभयदेव से कई शताब्दी पूर्व के प्राचीन आचार्य हरिभद्रसूरि ने उक्त '**केई**' पद के वाच्यरूप में **सिद्धसेनाचार्य** का नाम उल्लेखित

Scanned with OKEN Scanner

किया है, पं० सुखलाल जी ने उनके उस उल्लेख को महत्त्व दिया है तथा सन्मतिकार से भिन्न दूसरे सिद्धसेन की सम्भावना व्यक्त की है, और वे दूसरे सिद्धसेन उन द्वात्रिंशिकाओं के कर्ता हो सकते हैं, जिनमें युगपद्वाद का समर्थन पाया जाता है, इसे भी ऊपर दर्शाया जा चुका है। इस तरह जब मल्लवादी का जिनभद्र से पूर्ववर्ती होना सुनिश्चित ही नहीं है, तब उक्त प्रमाण और भी निःसार एवं बेकार हो जाता है। साथ ही, अभयदेव का मल्लवादी को युगपद्वाद का पुरस्कर्ता बतलाना भी भ्रान्त ठहरता है।" (पु.जै.वा.सू./प्रस्ता./पृ. १४७-१४९)।

"यहाँ पर एक बात और भी जान लेने की है और वह यह कि हाल में मुनि श्री जम्बूविजय जी ने मल्लवादी के सटीक नयचक्र का पारायण करके उसका विशेष परिचय 'श्री आत्मानन्दप्रकाश' (वर्ष ४५/अङ्क ७) में प्रकट किया है, उस पर से यह स्पष्ट मालूम होता है कि मल्लवादी ने अपने **नयचक्र** में पद-पद पर **वाक्यपदीय** ग्रन्थ का उपयोग ही नहीं किया, बल्कि उसके कर्ता भर्तृहरि का नामोल्लेख और भर्तृहरि के मत का खण्डन भी किया है। इन भर्तृहरि का समय इतिहास में **चीनी-यात्री इत्सिङ्ग** के यात्राविवरणादि के अनुसार ई० सन् ६०० से ६५० (वि० सं० ६५७ से ७०७) तक माना जाता है, क्योंकि इत्सिङ्ग ने जब सन् ६९१ में अपना यात्रावृत्तान्त लिखा तब भर्तृहरि का देहावसान हुए ४० वर्ष बीत चुके थे। और वह उस समय का प्रसिद्ध वैयाकरण था। ऐसी हालत में भी मल्लवादी जिनभद्र से पूर्ववर्ती नहीं कहे जा सकते। उक्त समयादिक की दृष्टि से वे विक्रम की प्रायः आठवीं-नवमी शताब्दी के विद्वान् हो सकते हैं और तब उनका व्यक्तित्व **न्यायबिन्दु** की धर्मोत्तर टीका[३३] पर टिप्पण लिखनेवाले मल्लवादी के साथ एक भी हो सकता है। इस टिप्पण में मल्लवादी ने अनेक स्थानों पर **न्यायबिन्दु** की **विनीतदेव**-कृत-टीका का उल्लेख किया है और इस विनीतदेव का समय **राहुलसांकृत्यायन** ने, **वादन्याय** की प्रस्तावना में, धर्मकीर्ति के उत्तराधिकारियों की एक तिब्बती सूची पर से ई० सन् ७७५ से ८०० (वि० सं० ८५७) तक निश्चित किया है।" (पु.जै.वा.सू./प्रस्ता./पृ. १४९)।

"इस सारी वस्तुस्थिति को ध्यान में रखते हुए ऐसा जान पड़ता है कि विक्रम की १४वीं शताब्दी के विद्वान् **प्रभाचन्द्र** ने अपने **प्रभावकचरित** के विजयसिंहसूरि-प्रबन्ध में बौद्धों और उनके व्यन्तरों को वाद में जीतने का जो समय मल्लवादी का वीरवत्सर से ८८४ वर्ष बाद का अर्थात् विक्रम संवत् ४१४ दिया है[३४] और जिसके

---

३३. बौद्धाचार्य धर्मोत्तर का समय पं. राहुलसांकृत्यायन ने वादन्याय की प्रस्तावना में ई. स. ७२५ से ७५०, (वि. सं. ७८२ से ८०७) तक व्यक्त किया है। (पु.जै.वा.सू./प्रस्ता./पृ. १४९)।

३४. श्रीवीरवत्सरादथ शताष्टके चतुरशीति-संयुक्ते।
जिग्ये स मल्लवादी बौद्धांस्तद्व्यन्तरांश्चाऽपि॥ ८३॥

कारण ही उन्हें श्वेताम्बर समाज में इतना प्राचीन माना जाता है तथा **मुनि जिनविजय** ने भी जिसका एकबार पक्ष लिया है[३५] उसके उल्लेख में जरूर कुछ भूल हुई है। पं० सुखलाल जी ने भी उस भूल को महसूस किया है, तभी उसमें प्रायः १०० वर्ष की वृद्धि करके उसे विक्रम की छठी शताब्दी का पूर्वार्ध ( वि० सं० ५५०) तक मान लेने की बात अपने इस प्रथम प्रमाण में कही है। डॉ० पी० एल० वैद्य एम० ए० ने न्यायावतार की प्रस्तावना में, इस भूल अथवा गलती का कारण **श्रीवीर-विक्रमात्** के स्थान पर **श्रीवीरवत्सरात्** पाठान्तर का हो जाना सुझाया है। इस प्रकार के पाठान्तर का हो जाना कोई अस्वाभाविक अथवा असंभाव्य नहीं है, किन्तु सहज-साध्य जान पड़ता है। इस सुझाव के अनुसार यदि शुद्ध पाठ **वीरविक्रमात्** हो, तो मल्लवादी का समय वि० सं० ८८४ तक पहुँच जाता है और यह समय मल्लवादी के जीवन का प्रायः अन्तिम समय हो सकता है और मल्लवादी को हरिभद्र के प्रायः समकालीन कहना होगा, क्योंकि हरिभद्र ने **'उक्तं च वादिमुख्येन मल्लवादिना'** जैसे शब्दों के द्वारा **अनेकान्तजयपताका** की टीका में मल्लवादी का स्पष्ट उल्लेख किया है। हरिभद्र का समय भी विक्रम की ९वीं शताब्दी के तृतीय-चतुर्थ चरण तक पहुँचता है,[३६] क्योंकि वि० सं० ८५७ के लगभग बनी हुई **भट्टजयन्त** की **न्यायमञ्जरी** का **'गम्भीरगर्जितारम्भ'** नाम का एक पद्य **हरिभद्र** के **षड्दर्शनसमुच्चय** में उद्धृत मिलता है, ऐसा **न्यायाचार्य पं० महेन्द्रकुमार जी** ने **न्यायकुमुदचन्द्र** के द्वितीय भाग की प्रस्तावना में उद्घोषित किया है। इसके सिवाय, **हरिभद्र** ने स्वयं **शास्त्रवार्तासमुच्चय** के चतुर्थस्तवन में **'एतेनैव प्रतिक्षिप्तं यदुक्तं सूक्ष्मबुद्धिना'** इत्यादि वाक्य के द्वारा **बौद्धाचार्य शान्तरक्षित** के मत का उल्लेख किया है और स्वोपज्ञटीका में **सूक्ष्मबुद्धिना** का **शान्तरक्षितेन** अर्थ देकर उसे स्पष्ट किया है। **शान्तरक्षित, धर्मोत्तर** तथा **विनीतदेव** के भी प्रायः उत्तरवर्ती हैं और उनका समय **राहुलसांकृत्यायन** ने **वादन्याय** के परि-शिष्टों में ई० सन् ८४० (वि० स० ८९७) तक बतलाया है। हरिभद्र को उनके समकालीन समझना चाहिये। इससे हरिभद्र का कथन उक्त समय में बाधक नहीं रहता और सब कथनों की सङ्गति ठीक बैठ जाती है।'' (पु.जै.वा.सू./प्रस्ता./ पृ.१४९-१५०)।

---

३५. देखिए, जैन साहित्य संशोधक / भाग २।

३६. ९वीं शताब्दी के द्वितीय चरण तक का समय तो मुनि जिनविजय जी ने भी अपने हरिभद्र के समय-निर्णयवाले लेख में बतलाया है। क्योंकि विक्रमसंवत् ८३५ (शक सं. ७००) में बनी हुई कुवलयमाला में उद्योतनसूरि ने हरिभद्र को न्यायविद्या में अपना गुरु लिखा है। हरिभद्र के समय, संयतजीवन और उनके साहित्यिक कार्यों की विशालता को देखते हुए उनकी आयु का अनुमान सौ वर्ष के लगभग लगाया जा सकता है और वे मल्लवादी के समकालीन होने के साथ-साथ कुवलयमाला की रचना के कितने ही वर्ष बाद तक जीवित रह सकते हैं। (पु.जै.वा.सू./प्रस्ता./पृ. १५०)।

Scanned with OKEN Scanner

"नयचक्र के उक्त विशेष परिचय से यह भी मालूम होता है कि उस ग्रन्थ में सिद्धसेन नाम के साथ जो भी उल्लेख मिलते हैं, उनमें सिद्धसेन को **आचार्य** और **सूरि** जैसे पदों के साथ तो उल्लेखित किया है, परन्तु **दिवाकर** पद के साथ कहीं भी उल्लेखित नहीं किया है, तभी मुनि **श्री जम्बूविजय जी** की यह लिखने में प्रवृत्ति हुई है कि "**आ सिद्धसेनसूरि सिद्धसेन दिवाकरज संभवतः होवा जोइये**" अर्थात् यह सिद्धसेनसूरि सम्भवतः सिद्धसेनदिवाकर ही होने चाहिये, भले ही दिवाकर नाम के साथ वे उल्लेखित नहीं मिलते। उनका यह लिखना उनकी धारणा और भावना का ही प्रतीक कहा जा सकता है, क्योंकि '**होना चाहिये**' का कोई कारण साथ में व्यक्त नहीं किया गया। **पं० सुखलाल जी** ने अपने उक्त प्रमाण में इन **सिद्धसेन** को **दिवाकर** नाम से ही उल्लेखित किया है, **जो कि वस्तुस्थिति का बड़ा ही गलत निरूपण है और अनेक भूल-भ्रान्तियों को जन्म देनेवाला है।** किसी विषय को विचार के लिये प्रस्तुत करनेवाले निष्पक्ष विद्वानों के द्वारा अपनी प्रयोजनादि-सिद्धि के लिये वस्तुस्थिति का ऐसा गलत चित्रण नहीं होना चाहिये। हाँ, उक्त परिचय से यह भी मालूम होता है कि सिद्धसेन नाम के साथ जो उल्लेख मिल रहे हैं, उनमें से कोई भी उल्लेख सिद्धसेनदिवाकर के नाम पर चढ़े हुए उपलब्ध ग्रन्थों में से किसी में भी नहीं मिलता है। नमूने के तौर पर जो दो उल्लेख[३७] परिचय में उद्धृत किये गये हैं, उनका विषय प्रायः शब्दशास्त्र (व्याकरण) तथा शब्दनयादि से सम्बन्ध रखता हुआ जान पड़ता है। इससे भी सिद्धसेन के उन उल्लेखों को दिवाकर के उल्लेख बतलाना व्यर्थ ठहरता है।" (पु.जै.वा.सू./प्रस्ता./पृ.१५०)।

### ७.१. पूज्यपाद-उल्लिखित सिद्धसेन सन्मतिसूत्रकार से भिन्न एवं पूर्ववर्ती

"रही द्वितीय प्रमाणकी बात, उससे केवल इतना ही सिद्ध होता है कि तीसरी और नवमी द्वात्रिंशिका के कर्ता जो सिद्धसेन हैं, वे पूज्यपाद देवनन्दी से पहले हुए हैं। उनका समय विक्रम की पाँचवीं शताब्दी भी हो सकता है। इससे अधिक यह सिद्ध नहीं होता कि सन्मतिसूत्र के कर्ता सिद्धसेन भी पूज्यपाद देवनन्दी से पहले अथवा विक्रम की ५वीं शताब्दी में हुए हैं। इसको सिद्ध करने के लिये पहले यह सिद्ध करना होगा कि सन्मतिसूत्र और तीसरी तथा नवमी द्वात्रिंशिकाएँ तीनों एक ही सिद्धसेन की कृतियाँ हैं। और यह सिद्ध नहीं है। **पूज्यपाद से पहले उपयोगद्वय के क्रमवाद**

---

३७. "तथा च आचार्यसिद्धसेन आह—
"यत्र ह्यर्थो वाचं व्यभिचरति न (ना) भिधानं तत्॥" वि. २७७।
"अस्ति-भवति-विद्यति-वर्ततयः सन्निपातषष्ठाः सत्तार्था इत्यविशेषणोक्तत्वात् सिद्धसेन-सूरिणा।" वि. १६६। (पु.जै.वा.सू./प्रस्ता./पृ. १५०)।

तथा अभेदवाद के कोई पुरस्कर्ता नहीं हुए हैं, होते तो पूज्यपाद अपनी सर्वार्थसिद्धि में सनातन से चले आये युगपद्वाद का प्रतिपादनमात्र करके ही न रह जाते, बल्कि उसके विरोधी वाद अथवा वादों का खण्डन जरूर करते, परन्तु ऐसा नहीं है,[३८] और इससे यह मालूम होता है कि पूज्यपाद के समय में केवली के उपयोग-विषयक क्रमवाद और अभेदवाद प्रचलित नहीं हुए थे, वे उनके बाद ही सविशेषरूप से घोषित तथा प्रचार को प्राप्त हुए हैं, और इसी से पूज्यपाद के बाद **अकलङ्कादिक** के साहित्य में उनका उल्लेख तथा खण्डन पाया जाता है। **क्रमवाद का प्रस्थापन निर्युक्तिकार भद्रबाहु के द्वारा और अभेदवाद का प्रस्थापन सन्मतिकार सिद्धसेन के द्वारा हुआ है।** उन वादों के इस विकासक्रम का समर्थन जिनभद्र की **विशेषणवती**-गत उन दो गाथाओं (**'केई भणंति जुगवं'** इत्यादि नम्बर १८४, १८५) से भी होता है, जिनमें **युगपत्**, **क्रम** और **अभेद** इन तीनों वादों के पुरस्कर्ताओं का इसी क्रम से उल्लेख किया गया है और जिन्हें ऊपर (नं.२ में) उद्धृत किया जा चुका है।" (पु.जै.वा. सू./प्रस्ता./पृ. १५०-१५१)।

"पं० सुखलाल जी ने निर्युक्तिकार भद्रबाहु को प्रथम भद्रबाहु और उनका समय विक्रम की दूसरी शताब्दी मान लिया है,[३९] इसी से इन वादों के क्रम-विकास को समझने में उन्हें भ्रान्ति हुई है, और वे यह प्रतिपादन करने में प्रवृत हुए हैं कि पहले क्रमवाद था, **युगपद्वाद** बाद को सबसे पहले **वाचक उमास्वाति**[४०] द्वारा जैन वाङ्मय में प्रविष्ट हुआ और फिर उसके बाद **अभेदवाद** का प्रवेश मुख्यतः **सिद्धसेनाचार्य** के द्वारा हुआ है। परन्तु यह ठीक नहीं है, क्योंकि प्रथम तो युगपद्वाद का प्रतिवाद भद्रबाहु की **आवश्यकनिर्युक्ति** के **"सव्वस्स केवलिस्स वि जुगवं दो णत्थि उवओगा"** इस वाक्य में पाया जाता है, जो भद्रबाहु को दूसरी शताब्दी का विद्वान् मानने के कारण उमास्वाति के पूर्व का[४१] ठहरता है और इसलिये उनके विरुद्ध जाता है। दूसरे, **श्री कुन्दकुन्दाचार्य** के **नियमसार** जैसे ग्रन्थों और **आचार्य भूतबलि** के **षट्खण्डागम** में भी **युगपद्वाद** का स्पष्ट विधान पाया जाता है। ये दोनों आचार्य उमास्वाति के

---

३८. "स उपयोगो द्विविधः ज्ञानोपयोगो दर्शनोपयोगश्चेति।---साकारं ज्ञानमनाकारं दर्शनमति। तच्छद्मस्थेषु क्रमेण वर्तते। निरावरणेषु युगपत्।" सर्वार्थसिद्धि / २/ ९।

३९. ज्ञानबिन्दु परिचय/पृ.५/पादटिप्पण।

४०. "मतिज्ञानादिषु चतुर्षु पर्यायेणोपयोगो भवति, न युगपत्। सम्भिन्नज्ञानदर्शनस्य तु भगवतः केवलिनो युगपत्सर्वभावग्राहके निरपेक्षे केवलज्ञाने केवलदर्शने चानुसमयमुपयोगो भवति।" तत्त्वार्थाधिगमभाष्य / १ / ३१।

४१. उमास्वातिवाचक को पं. सुखलाल जी ने विक्रम की तीसरी से पाँचवीं शताब्दी के मध्य का विद्वान् बतलाया है। (ज्ञा.वि.परि./पृ.५४) पु.जै.वा.सू./प्रस्ता./पृ. १५१।

Scanned with OKEN Scanner

पूर्ववर्ती हैं[४२] और इनके युगपद्वाद-विधायक वाक्य नमूने के तौर पर इस प्रकार हैं—

**जुगवं वट्टइ णाणं केवलणाणिस्स दंसणं च तहा।**
**दिणयर-पयास-तावं जह वट्टइ तह मुणेयव्वं॥** १५९॥ नियमसार।

**"सइं भयवं उप्पण्ण-णाण-दरिसी सदेवाऽसुर-माणुसस्स लोगस्स आगदिं गदिं चयणोववादं बंधं मोक्खं इड्ढिं ट्ठिदिं जुदिं अणुभागं तक्कं कलं मणो माणसियं भुत्तं कदं पडिसेविदं आदिकम्मं अरहकम्मं सव्वलोए सव्वजीवे सव्वभावे सम्मं समं जाणदि पस्सदि विहरदि त्ति।"** (ष.खं./पु.१३/ ५,५,८२/ पृ.३४६)।

"ऐसी हालत में युगपद्वाद की सर्वप्रथम उत्पत्ति उमास्वाति से बतलाना किसी तरह भी युक्तियुक्त नहीं कहा जा सकता, जैनवाङ्मय में इसकी अविकल धारा अतिप्राचीन काल से चली आई है। यह दूसरी बात है कि क्रम तथा अभेद की धाराएँ भी उसमें कुछ बाद को शामिल हो गई हैं, परन्तु विकासक्रम **युगपद्वाद** से ही प्रारंभ होता है, जिसकी सूचना **विशेषणवती** की उक्त गाथाओं (**'केई भणंति जुगवं'** इत्यादि) से भी मिलती है। दिगम्बराचार्य **श्री कुन्दकुन्द, समन्तभद्र** और **पूज्यपाद** के ग्रन्थों में क्रमवाद तथा अभेदवाद का कोई ऊहापोह अथवा खण्डन न होना पं० सुखलाल जी को कुछ अखरा है, परन्तु इसमें अखरने की कोई बात नहीं है। जब इन आचार्यों के सामने ये दोनों बाद आए ही नहीं, तब वे इन वादों का ऊहापोह अथवा खण्डनादिक कैसे कर सकते थे? **अकलङ्क** के सामने जब ये वाद आए, तब उन्होंने उनका खण्डन किया ही है, चुनाँचे **पं० सुखलाल** जी स्वयं **ज्ञानबिन्दु** के परिचय में यह स्वीकार करते हैं कि **"ऐसा खण्डन हम सबसे पहले अकलङ्क की कृतियों में पाते हैं।"** और इसलिये उनसे पूर्व की, कुन्दकुन्द, समन्तभद्र तथा पूज्यपाद की कृतियों में उन वादों की कोई चर्चा का न होना इस बात को और भी साफ तौर पर सूचित करता है कि इन दोनों वादों की प्रादुर्भूति उनके समय के बाद हुई है। सिद्धसेन के सामने ये दोनों वाद थे, दोनों की चर्चा **'सन्मति'** में की गई है, **अतः ये सिद्धसेन पूज्यपाद के पूर्ववर्ती नहीं हो सकते। पूज्यपाद ने जिन सिद्धसेन का अपने व्याकरण में नामोल्लेख किया है, वे कोई दूसरे ही सिद्धसेन होने चाहिये।"** (पु. जै.वा.सू./प्रस्ता./ पृ.१५१-१५२)।

### ७.२. पूज्यपादकृत जैनेन्द्रव्याकरण में समन्तभद्र का उल्लेख

"यहाँ पर एक खास बात नोट किये जाने के योग्य है और वह यह कि पं० सुखलाल जी सिद्धसेन को पूज्यपाद से पूर्ववर्ती सिद्ध करने के लिए **पूज्यपादीय**

---

४२. इस पूर्ववर्तित्व का उल्लेख श्रवणबेल्गोलादि के शिलालेखों तथा अनेक ग्रन्थप्रशस्तियों में पाया जाता है। (पु.जै.वा.सू./प्रस्ता./पृ. १५१)

Scanned with OKEN Scanner

**जैनेन्द्र व्याकरण** का उक्त सूत्र तो उपस्थित करते हैं, परन्तु उसी व्याकरण के दूसरे समकक्ष सूत्र "**चतुष्टयं समन्तभद्रस्य**" को देखते हुए भी अनदेखा कर जाते हैं, उसके प्रति **गजनिमीलन** जैसा व्यवहार करते हैं, और **ज्ञानबिन्दु** की परिचयात्मक प्रस्तावना (पृ.५५) में बिना किसी हेतु के ही यहाँ तक लिखने का साहस करते हैं कि "पूज्यपाद के उत्तरवर्ती दिगम्बराचार्य समन्तभद्र" ने अमुक उल्लेख किया! साथ ही, इस बात को भी भुला जाते हैं कि **सन्मति** की प्रस्तावना में वे स्वयं पूज्यपाद को समन्तभद्र का उत्तरवर्ती बतला आए हैं और यह लिख आए हैं कि 'स्तुतिकाररूप से प्रसिद्ध इन दोनों जैनाचार्यों का उल्लेख पूज्यपाद ने अपने व्याकरण के उक्त सूत्रों में किया है, उनका कोई भी प्रकार का प्रभाव पूज्यपाद की कृतियों पर होना चाहिये।' मालूम नहीं फिर उनके इस साहसिक कृत्य का क्या रहस्य है! और किस अभिनिवेश के वशवर्ती होकर उन्होंने अब यों ही चलती कलम से समन्तभद्र को पूज्यपाद का उत्तरवर्ती कह डाला है!! इसे अथवा इसके औचित्य को वे ही स्वयं समझ सकते हैं। दूसरे विद्वान् तो इसमें कोई औचित्य एवं न्याय नहीं देखते कि **एक ही व्याकरण ग्रन्थ में उल्लेखित दो विद्वानों में से एक को उस ग्रन्थकार का पूर्ववर्ती और दूसरे को उत्तरवर्ती बतलाया जाय** और वह भी बिना किसी युक्ति के। **इसमें सन्देह नहीं कि पण्डित सुखलाल जी की बहुत पहले से यह धारणा बनी हुई है कि सिद्धसेन समन्तभद्र के पूर्ववर्ती हैं और वे जैसे-तैसे उसे प्रकट करने के लिए कोई भी अवसर चूकते नहीं हैं।** हो सकता है कि उसी की धुन में उनसे यह कार्य बन गया हो, जो उस प्रकटीकरण का ही एक प्रकार है, अन्यथा वैसा कहने के लिये कोई भी युक्तियुक्त कारण नहीं है।" (पु.जै.वा.सू./प्रस्ता./पृ.१५२)।

"पूज्यपाद समन्तभद्र के पूर्ववर्ती नहीं, किन्तु उत्तरवर्ती हैं, यह बात जैनेन्द्रव्याकरण के उक्त "**चतुष्टयं समन्तभद्रस्य**" सूत्र से ही नहीं, किन्तु श्रवणबेल्गोल के शिलालेखों आदि से भी भले प्रकार जानी जाती है।[४३] पूज्यपाद की **सर्वार्थसिद्धि** पर **समन्तभद्र** का स्पष्ट प्रभाव है, इसे '**सर्वार्थसिद्धि पर समन्तभद्र का प्रभाव**' नामक लेख में स्पष्ट करके बतलाया जा चुका है।[४४] समन्तभद्र के **रत्नकरण्ड** का '**आप्तोपज्ञमनुल्लंघ्यम्**'

---

४३. देखिए, श्रवणबेल्गोल-शिलालेख नं. ४० (६४), १०८ (२५८), 'स्वामी समन्तभद्र' (इतिहास) पृ. १४१-१४३, तथा 'जैनजगत' वर्ष ९/अङ्क १५-१६ में प्रकाशित 'समन्तभद्र का समय और डॉ. के. बी. पाठक' शीर्षक लेख /पृ. १८-२३, अथवा 'दि एन्नल्स ऑफ दि भाण्डारकर रिसर्च इन्स्टिट्यूट, पूना/वाल्यूम १५/ पार्ट १-२ में प्रकाशित Samantabhadra's date and Dr. K. B. Pathak पृ. ८१-८८। (पु. जै. वा. सू./ प्रस्ता./पृ. १५२-१५३)।

४४. देखिए, अनेकान्त/ वर्ष ५/नवम्बर-दिसम्बर १९४३/ किरण १०-११/ पृ. ३४५-३५२। (प्रस्तुत अध्याय के तृतीय प्रकरण में उद्धृत)।

Scanned with OKEN Scanner

नाम का शास्त्रलक्षणवाला पूरा पद्य न्यायावतार में उद्धृत है, जिसकी रत्नकरण्ड में स्वाभाविकी और न्यायावतार में उद्धरण जैसी-स्थिति को खूब खोलकर अनेक युक्तियों के साथ अन्यत्र दर्शाया जा चुका है[४५] उसके प्रक्षिप्त होने की कल्पना-जैसी बात भी अब नहीं रही, क्योंकि एक तो **न्यायावतार** का समय अधिक दूर का न रहकर टीकाकार **सिद्धर्षि** के निकट पहुँच गया है, दूसरे उसमें अन्य कुछ वाक्य भी समर्थनादि के रूप में उद्धृत पाये जाते हैं। जैसे "**साध्याविनाभुवो हेतोः**" जैसे वाक्य में हेतु का लक्षण आ जाने पर भी "**अन्यथानुपपन्नत्वं हेतोर्लक्षणमीरितम्**" इस वाक्य में उन पात्रस्वामी के हेतुलक्षण को उद्धृत किया गया है, जो समन्तभद्र के देवागम से प्रभावित होकर जैनधर्म में दीक्षित हुए थे। इसी तरह "**दृष्टेष्टाव्याहताद्वाक्यात्**" इत्यादि आठवें पद्य में शाब्द (आगम) प्रमाण का लक्षण आ जाने पर भी अगले पद्य में समन्तभद्र का "**आप्तोपज्ञमनुल्लंघ्यमदृष्टेष्टविरोधकम्**" इत्यादि शास्त्र का लक्षण समर्थनादि के रूप में उद्धृत हुआ समझना चाहिये।

### ७.३. न्यायावतार में समन्तभद्र का अनुकरण

"इसके सिवाय, **न्यायावतार** पर समन्तभद्र के **देवागम** (आप्तमीमांसा) का भी स्पष्ट प्रभाव है, जैसा कि दोनों ग्रन्थों में प्रमाण के अनन्तर पाये जाने वाले निम्न वाक्यों की तुलना पर से जाना जाता है—

देवागम— **उपेक्षा फलमाऽऽद्यस्य शेषस्याऽऽदान-हान-धीः।**
**पूर्वा (र्वं) वाऽज्ञान-नाशो वा सर्वस्याऽस्य स्वगोचरे॥ १०२॥**

न्याया.— **प्रमाणस्य फलं साक्षादज्ञान-विनिवर्तनम्।**
**केवलस्य सुखोपेक्षे[४६] शेषस्याऽऽदान-हान धीः॥ २८॥**

"ऐसी स्थिति में व्याकरणादि के कर्ता पूज्यपाद और न्यायावतार के कर्ता सिद्धसेन दोनों ही स्वामी समन्तभद्र के उत्तरवर्ती हैं, इसमें संदेह के लिये कोई स्थान नहीं है। सन्मतिसूत्र के कर्ता सिद्धसेन चूँकि निर्युक्तिकार एवं नैमित्तिक भद्रबाहु के बाद हुए हैं, उन्होंने भद्रबाहु के द्वारा पुरस्कृत उपयोग-क्रमवाद का खण्डन किया है, और इन भद्रबाहु का समय विक्रम की छठी शताब्दी का प्रायः तृतीय चरण पाया जाता है, यही समय सन्मतिकार सिद्धसेन के समय की पूर्वसीमा है, जैसा कि ऊपर सिद्ध

---

४५. देखिए , 'स्वामी समन्तभद्र' (इतिहास)/पृ. १२६-१३१ तथा अनेकान्त / वर्ष ९/किरण १ से ४ में प्रकाशित 'रत्नकरण्ड के कर्तृत्वविषय में मेरा विचार और निर्णय' नामक लेख/पृ. १०२-१०४। (प्रस्तुत अध्याय के चतुर्थ प्रकरण में उद्धृत)।

४६. यहाँ 'उपेक्षा' के साथ सुखकी वृद्धि की गई है, जिसका अज्ञाननिवृत्ति तथा उपेक्षा (रागादिक की निवृत्तिरूप अनासक्ति) के साथ अविनाभावी सम्बन्ध है।

Scanned with OKEN Scanner

किया जा चुका है। पूज्यपाद इस समय से पहले गङ्गवंशी राजा **अविनीत** (ई० सन् ४३०-४८२) तथा उसके उत्तराधिकारी **दुर्विनीत** के समय में हुए हैं और उनके एक शिष्य **वज्रनन्दी** ने विक्रम संवत् ५२६ में **द्राविडसंघ** की स्थापना की है, जिसका उल्लेख **देवसेनसूरि** के **दर्शनसार** (वि० सं० ९९०) ग्रन्थ में मिलता है।[४७] अतः सन्मतिकार सिद्धसेन पूज्यपाद के उत्तरवर्ती हैं, पूज्यपाद के उत्तरवर्ती होने से समन्तभद्र के भी उत्तरवर्ती हैं, ऐसा सिद्ध होता है। और इसलिये समन्तभद्र के स्वयम्भूस्तोत्र तथा आप्तमीमांसा (देवागम) नामक दो ग्रन्थों की सिद्धसेनीय सन्मतिसूत्र के साथ तुलना करके पं० सुखलाल जी ने दोनों आचार्यों के इन ग्रन्थों में जिस **वस्तुगत पुष्कल साम्य** की सूचना **सन्मति** की प्रस्तावना (पृ.६६) में की है, उसके लिये सन्मतिसूत्र को अधिकांश में सामन्तभद्रीय ग्रन्थों के प्रभावादि का आभारी समझना चाहिये। अनेकान्त-शासन के जिस स्वरूप-प्रदर्शन एवं गौरव-ख्यापन की ओर समन्तभद्र का प्रधान लक्ष्य रहा है, उसी को सिद्धसेन ने भी अपने ढङ्ग से अपनाया है। साथ ही सामान्य-विशेष-मातृक नयों के सर्वथा-असर्वथा, सापेक्ष-निरपेक्ष और सम्यक्-मिथ्यादि-स्वरूपविषयक समन्तभद्र के मौलिक निर्देशों को भी आत्मसात् किया है। **सन्मति** का कोई-कोई कथन समन्तभद्र के कथन से कुछ मतभेद अथवा उसमें कुछ वृद्धि या विशेष आयोजन को भी साथ में लिये हुए जान पड़ता है, जिसका एक नमूना इस प्रकार है—

**दव्वं खित्तं कालं भावं पज्जाय-देस-संजोगे।**
**भेदं च पडुच्च समा भावाणं पण्णवणपज्जा॥ ३/६०॥**

इस गाथा में बतलाया है कि "पदार्थों की प्ररूपणा **द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव, पर्याय, देश, संयोग** और **भेद** को आश्रित करके ठीक होती है," जब कि समन्तभद्र ने "**सदेव सर्वं को नेच्छेत् स्वरूपादिचतुष्टयात्**" जैसे वाक्यों के द्वारा द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव इस चतुष्टय को ही पदार्थप्ररूपण का मुख्य साधन बतलाया है। इससे यह साफ जाना जाता है कि समन्तभद्र के उक्त चतुष्टय में सिद्धसेन ने बाद को एक दूसरे चतुष्टय की और वृद्धि की है, जिसका पहले से पूर्व के चतुष्टय में ही अन्तर्भाव था।" (पु.जै.वा.सू./प्रस्ता./पृ.१५२-१५४)।

### ७.४. प्रथम द्वात्रिंशिका में समन्तभद्र का प्रचुर अनुकरण

"रही द्वात्रिंशिकाओं के कर्ता सिद्धसेन की बात, पहली द्वात्रिंशिका में एक उल्लेख-

---

४७. सिरिपुज्जपादसीसो दाविडसंघस्स कारगो दुट्ठो।
णामेण वज्जणंदी पाहुडवेदी महासत्तो॥ २४॥
पंचसए छव्वीसे विक्कमरायस्स मरणपत्तस्स।
दक्खिणमहुराजादो दाविडसंघो महामोहो॥ २५॥

Scanned with OKEN Scanner

वाक्य निम्न प्रकार से पाया जाता है, जो इस विषय में अपना खास महत्त्व रखता है—

**य एष षड्जीव निकाय विस्तरः परैरनालीढपथस्त्वयोदितः।**
**अनेन सर्वज्ञपरीक्षणक्षमास्त्वयि प्रसादोदयसोत्सवाः स्थिताः॥ १३॥**

"इसमें बतलाया है कि "हे वीरजिन! यह जो षट् प्रकार के जीवों के निकायों (समूहों) का विस्तार है और जिसका मार्ग दूसरों के अनुभव में नहीं आया, वह आपके द्वारा उदित हुआ, बतलाया गया अथवा प्रकाश में लाया गया है। इसी से जो सर्वज्ञ की परीक्षा करने में समर्थ हैं, वे (आपको सर्वज्ञ जानकर) प्रसन्नता के उदयरूप उत्सव के साथ आप में स्थित हुए हैं, बड़े प्रसन्नचित्त से आपके आश्रय में प्राप्त हुए और आपके भक्त बने हैं।" वे समर्थ-सर्वज्ञ-परीक्षक कौन हैं, जिनका यहाँ उल्लेख है और जो आप्तप्रभु वीरजिनेन्द्र की सर्वज्ञरूप में परीक्षा करने के अनन्तर उनके सुदृढ़ भक्त बने हैं? वे हैं स्वामी समन्तभद्र, जिन्होंने आप्तमीमांसा द्वारा सबसे पहले सर्वज्ञ की परीक्षा[४८] की है, जो परीक्षा के अनन्तर वीर की स्तुतिरूप में **युक्त्यनुशासन** स्तोत्र के रचने में प्रवृत्त हुए हैं[४९] और जो **स्वयम्भूस्तोत्र** के निम्न पद्यों में सर्वज्ञ का उल्लेख करते हुए उसमें अपनी स्थिति एवं भक्ति को "**त्वयि सुप्रसन्नमनसाः स्थिता वयम्**" इस वाक्य के द्वारा स्वयं व्यक्त करते हैं, जो कि "**त्वयि प्रसादोदयसोत्सवाः स्थिताः**" इस वाक्य का स्पष्ट मूलाधार जान पड़ता है—

**बहिरन्तरप्युभयथा च करणमविघाति नाऽर्थकृत्।**
**नाथ! युगपदखिलं च सदा त्वमिदं तलाऽऽमलकवद्विवेदिथ॥ १२९॥**

**अत एव ते बुध-नुतस्य चरित-गुणमद्भुतोदयम्।**
**न्यायविहितमवधार्य जिने त्वयि सुप्रसन्नमनसा स्थिता वयम्॥ १३०॥**

---

४८. अकलङ्कदेव ने भी 'अष्टशती' भाष्य में आप्तमीमांसा को "सर्वज्ञविशेषपरीक्षा" लिखा है और वादिराजसूरि ने 'पार्श्वनाथचरित' में यह प्रतिपादित किया है कि उसी देवागम (आप्तमीमांसा) के द्वारा स्वामी (समन्तभद्र) ने आज भी सर्वज्ञ को प्रदर्शित कर रक्खा है—

स्वामिनश्चरितं तस्य कस्य न विस्मयावहम्।
देवागमेन सर्वज्ञो येनाऽद्यापि प्रदर्श्यते॥

४९. युक्त्यनुशासन की प्रथमकारिका में प्रयुक्त हुए 'अद्य' पद का अर्थ श्रीविद्यानन्द ने टीका में "अस्मिन् काले परीक्षाऽवसानसमये" दिया है और उसके द्वारा आप्तमीमांसा के बाद युक्त्यनुशासन की रचना को सूचित किया है।

Scanned with OKEN Scanner

"इन्हीं स्वामी समन्तभद्र को मुख्यतः लक्ष्य करके उक्त द्वात्रिंशिका के अगले दो पद्य[५०] कहे गये जान पड़ते हैं, जिनमें से एक में उनके द्वारा अर्हन्त में प्रतिपादित उन दो-दो बातों का उल्लेख है, जो सर्वज्ञ-विनिश्चय की सूचक हैं और दूसरे में उनके प्रथित यश की मात्रा का बड़े गौरव के साथ कीर्तन किया गया है। अतः इस द्वात्रिंशिका के कर्ता सिद्धसेन भी समन्तभद्र के उत्तरवर्ती हैं। समन्तभद्र के स्वयम्भूस्तोत्र का शैलीगत, शब्दगत और अर्थगत कितना ही साम्य भी इसमें पाया जाता है, जिसे अनुसरण कह सकते हैं, और जिसके कारण इस द्वात्रिंशिका को पढ़ते हुए कितनी ही बार इसके पदविन्यासादि पर से ऐसा भान होता है मानो हम स्वयम्भूस्तोत्र पढ़ रहे हैं। उदाहरण के तौर पर स्वयम्भूस्तोत्र का प्रारंभ जैसे उपजातिछन्द में **स्वयम्भुवा भूत** शब्दों से होता है, वैसे ही इस द्वात्रिंशिका का प्रारम्भ भी उपजाति छन्द में **स्वयम्भुवं भूत** शब्दों से होता है। **स्वयम्भूस्तोत्र** में जिस प्रकार **समन्त, संहत, गत, उदित, समीक्ष्य, प्रवादिन्, अनन्त, अनेकान्त** जैसे कुछ विशेष शब्दों का **मुने, नाथ, जिन, वीर** जैसे सम्बोधनपदों का और १.**जितक्षुल्लकवादिशासनः**, २.**स्वपक्षसौस्थित्यमदावलिप्ताः**, ३.**नैतत्समालीढपदं त्वदन्यैः**, ४.**शेरते प्रजाः**, ५.**अशेषमाहात्म्यमनीरयन्नपि**, ६.**नाऽसमीक्ष्य भवतः प्रवृत्तयः**, ७.**अचिन्त्यमीहितम्, आर्हन्त्यमचिन्त्यमद्भुतं**, ८.**सहस्राक्षः**, ९.**त्वद्द्विषः**, १०.**शशिरुचिशुचिशुक्ललोहितं --- वपुः**, ११.**स्थिता वयं** जैसे विशिष्ट पद-वाक्यों का प्रयोग पाया जाता है, उसी प्रकार **पहली द्वात्रिंशिका** में भी उक्त शब्दों तथा सम्बोधन-पदों के साथ १.**प्रपञ्चितक्षुल्लकतर्कशासनैः**, २.**स्वपक्ष एव प्रतिबद्धमत्सराः**, ३.**परैरनालीढपथस्त्वयोदितः**, ४.**जगत्---शेरते**, ५.**त्वदीयमाहात्म्यविशेषसंभ्ली---भारती**, ६.**समीक्ष्य-कारिणः**, ७.**अचिन्त्यमहात्म्यं**, ८.**भूतसहस्रनेत्रं**, ९.**त्वत्प्रतिघातनोन्मुखैः**, १०.**वपुः स्वभावस्थमरक्तशोणितं**, ११.**स्थिता वयं** जैसे विशिष्ट पदवाक्यों का प्रयोग देखा जाता है, जो यथाक्रम स्वयम्भूस्तोत्रगत उक्त पदों के प्रायः समकक्ष हैं। स्वयम्भूस्तोत्र में जिस तरह जिनस्तवन के साथ जिनशासन-जिनप्रवचन तथा अनेकान्त का प्रशंसन एवं महत्त्व ख्यापन किया गया है और वीरजिनेन्द्र के शासनमाहात्म्य को "**तव जिन! शासनविभवः जयति कलावपि गुणानुशासनविभवः**" जैसे शब्दों द्वारा कलिकाल में भी जयवन्त बतलाया गया है, उसी तरह इस द्वात्रिंशिका में भी जिनस्तुति के साथ जिनशासनादि का संक्षेप में कीर्तन किया गया है और वीरभगवान् को **सच्छासनवर्द्धमान्** लिखा है।

---

५०. वपुः स्वभावस्थमरक्तशोणितं पराऽनुकम्पा सफलं च भाषितम्।
न यस्य सर्वज्ञ-विनिश्चयस्त्वयि द्वयं करोत्येतदसौ न मानुषः॥ १४॥
अलब्धनिष्ठाः प्रसमिद्धचेतसस्तव प्रशिष्याः प्रथयन्ति यद्यशः।
न तावदप्येकसमूहसंहताः प्रकाशयेयुः परवादिपार्थिवाः॥ १५॥

Scanned with OKEN Scanner

इस प्रथम द्वात्रिंशिका के कर्ता सिद्धसेन ही यदि अगली चार द्वात्रिंशिकाओं के भी कर्ता हैं, जैसा कि पं० सुखलालजी का अनुमान है, तो ये पाँचों ही द्वात्रिंशिकाएँ, जो वीरस्तुति से सम्बन्ध रखती हैं और जिन्हें मुख्यतया लक्ष्य करके ही आचार्य हेमचन्द्र ने '**क्व सिद्धसेनस्तुतयो महार्थाः**' जैसे वाक्य का उच्चारण किया जान पड़ता है, स्वामी समन्तभद्र के उत्तरकाल की रचनाएँ हैं। इन सभी पर समन्तभद्र के ग्रन्थों की छाया पड़ी हुई जान पड़ती है।" (पु.जै.वा.सू./प्रस्ता./पृ. १५४-१५६)।

"इस तरह स्वामी समन्तभद्र 'न्यायावतार' के कर्ता, 'सन्मति' के कर्ता और उक्त द्वात्रिंशिका अथवा द्वात्रिंशिकाओं के कर्ता, तीनों ही सिद्धसेनों से पूर्ववर्ती सिद्ध होते हैं। उनका समय विक्रम की दूसरी-तीसरी शताब्दी है, जैसा कि दिगम्बरपट्टावली[५१] में शकसंवत् ६० (वि० सं० १९५) के उल्लेखानुसार दिगम्बर समाज में आमतौर पर माना जाता है। श्वेताम्बर पट्टावलियों में उन्हें **सामन्तभद्र** नाम से उल्लेखित किया है और उनके समय का पट्टाचार्यरूप में प्रारंभ वीरनिर्वाणसंवत् ६४३ अर्थात् वि० सं० १७३ से बतलाया है। साथ ही यह भी उल्लेखित किया है कि उनके पट्टशिष्य ने वीर नि० सं० ६९५ (वि० सं० २२५)[५२] में एक प्रतिष्ठा कराई है, जिससे उनके समय की उत्तरावधि विक्रम की तीसरी शताब्दी के प्रथम चरण तक पहुँच जाती है।[५३] इससे समय-सम्बन्धी दोनों सम्प्रदायों का कथन मिल जाता है और प्रायः एक ही ठहरता है।" (पु.जै.वा.सू./प्रस्ता./पृ.१५६)।

### ७.५. आद्य जैन तार्किक सिद्धसेन नहीं, अपितु समन्तभद्र

"ऐसी वस्तुस्थिति में पं० सुखलाल जी का अपने एक दूसरे लेख '**प्रतिभामूर्ति सिद्धसेन दिवाकर**' में, जो कि **भारतीयविद्या** के उसी अङ्क ( तृतीय भाग ) में प्रकाशित हुआ है, इन तीनों ग्रन्थों के कर्ता तीन सिद्धसेनों को एक ही सिद्धसेन बतलाते हुए यह कहना कि 'यही सिद्धसेन दिवाकर "आदि जैनतार्किक", "जैन परम्परा में तर्कविद्या का और तर्कप्रधान संस्कृत वाङ्मय का आदि प्रणेता", "आदि जैनकवि", "आदि जैनस्तुतिकार", "आद्य जैनवादी" और "आद्य जैनदार्शनिक" हैं' क्या अर्थ रखता है और कैसे सङ्गत हो सकता है? इसे विज्ञ पाठक स्वयं समझ सकते हैं। सिद्धसेन

---

५१. देखिए, हस्तलिखित संस्कृत ग्रन्थों के अनुसन्धान-विषयक डॉ० भाण्डारकर की सन् १८८३-८४ की रिपोर्ट/पृ. ३२०, मिस्टर लेविस राइस की 'इन्स्क्रिपशन्स ऐट् श्रवणबेल्गोल' की प्रस्तावना और कर्णाटकशब्दानुशासन की भूमिका। (पु.जै.वा.सू./प्रस्ता./पृ.१५६)।

५२. कुछ पट्टावलियों में यह समय वी० नि० सं० ५९५ अथवा विक्रम संवत् १२५ दिया है, जो किसी गलती का परिणाम है और मुनि कल्याणविजय ने अपने द्वारा सम्पादित 'तपागच्छपट्टावली' में उसके सुधार की सूचना की है। (पु.जै.वा.सू./प्रस्ता./पृ. १५६)।

५३. देखिये, मुनि श्री कल्याणविजय जी द्वारा सम्पादित 'तपागच्छपट्टावली'/पृ. ७९-८१।

Scanned with OKEN Scanner

के व्यक्तित्व और इन सब विषयों में उनकी विद्यायोग्यता एवं प्रतिभा के प्रति बहुमान रखते हुए भी स्वामी समन्तभद्र की पूर्वस्थिति और उनके अद्वितीय-अपूर्व साहित्य की पहले से मौजूदगी में मुझे इन सब उद्गारों का कुछ भी मूल्य मालूम नहीं होता और न पं० सुखलाल जी के इन कथनों में कोई सार ही जान पड़ता है कि—(क) 'सिद्धसेन का **सन्मति प्रकरण** जैनदृष्टि और जैन मन्तव्यों को तर्कशैली से स्पष्ट करने तथा स्थापित करनेवाला जैनवाङ्मय में सर्वप्रथम ग्रन्थ है' तथा (ख) 'स्वामी समन्तभद्र की स्वयम्भूस्तोत्र और युक्त्यनुशासन नामक ये दो दार्शनिक स्तुतियाँ सिद्धसेन की कृतियों का अनुकरण हैं।' तर्कादि-विषयों में समन्तभद्र की योग्यता और प्रतिभा किसी से भी कम नहीं, किन्तु सर्वोपरि रही है, इसी से अकलङ्कदेव और विद्यानन्दादि जैसे महान् तार्किकों-दार्शनिकों एवं वादविशारदों आदि ने उनके यश का खुला गान किया है, भगवज्जिनसेन ने आदिपुराण में उनके यश को कवियों, गमकों, वादियों तथा वादियों के मस्तक पर चूड़ामणि की तरह सुशोभित बतलाया है (इसी यश का पहली द्वात्रिंशिका के '**तव प्रशिष्याः प्रथयन्ति यद्यशः**' जैसे शब्दों में उल्लेख है) और साथ ही उन्हें कविब्रह्मा (कवियों को उत्पन्न करनेवाला विधाता) लिखा है तथा उनके वचनरूपी वज्रपात से कुमतरूपी पर्वत खण्ड-खण्ड हो गये, ऐसा उल्लेख भी किया है।[५४] **और इसलिये उपलब्ध जैनवाङ्मय में समयादिक की दृष्टि से आद्य तार्किकादि होने का यदि किसी को मान अथवा श्रेय प्राप्त है, तो स्वामी समन्तभद्र को ही प्राप्त है।** उनके **देवागम (आप्तमीमांसा), युक्त्यनुशासन, स्वयम्भूस्तोत्र** और **स्तुतिविद्या (जिनशतक)** जैसे ग्रन्थ आज भी जैनसमाज में अपनी जोड़ का कोई ग्रन्थ नहीं रखते। इन्हीं ग्रन्थों को मुनि कल्याणविजय जी ने भी उन निर्ग्रन्थचूड़ामणि श्रीसमन्तभद्र की कृतियाँ बतलाया है, **जिनका समय भी श्वेताम्बर-मान्यतानुसार विक्रम की दूसरी-तीसरी शताब्दी है।**[५५] तब सिद्धसेन को विक्रम की ५वीं शताब्दी का मान लेने पर भी समन्तभद्र की किसी कृति को सिद्धसेन की कृति का अनुकरण कैसे कहा जा सकता है? नहीं कहा जा सकता।" (पु.जै.वा.सू./प्रस्ता./पृ. १५६-१५७)।

### ७.६. कतिपय द्वात्रिंशिकाओं के कर्त्ता सिद्धसेन पूज्यपाद से पूर्ववर्ती

"इस सब विवेचन पर से स्पष्ट है कि पं० सुखलाल जी ने सन्मतिकार सिद्धसेन को विक्रम की पाँचवीं शताब्दी का विद्वान् सिद्ध करने के लिये जो प्रमाण उपस्थित किये हैं, वे उस विषय को सिद्ध करने के लिये बिल्कुल असमर्थ हैं। उनके दूसरे प्रमाण से जिन सिद्धसेन का पूज्यपाद से पूर्ववर्तित्व एवं विक्रम की पाँचवीं शताब्दी

---

५४. विशेष के लिये देखिए, 'सत्साधुस्मरण-मंगलपाठ'/पृ. २५ से ५१।

५५. तपागच्छपट्टावली/भाग पहला/पृ. ८०।

में होना पाया जाता है, वे कुछ द्वात्रिंशिकाओं के कर्ता हैं, न कि सन्मतिसूत्र के, जिसक रचनाकाल निर्युक्तिकार भद्रबाहु के समय से पूर्व का सिद्ध नहीं होता और इन भद्रबाहु का समय प्रसिद्ध श्वेताम्बर विद्वान् **मुनि श्री चतुरविजय जी** और **मुनि श्री पुण्यविजय जी** ने अनेक प्रमाणों के आधार पर विक्रम की छठी शताब्दी के प्रायः तृतीय चरण तक का निश्चित किया है। पं० सुखलाल जी का उसे विक्रम की दूसरी शताब्दी बतलाना किसी तरह भी युक्तियुक्त नहीं कहा जा सकता। **अतः सन्मतिकार सिद्धसेन का जो समय विक्रम की छठी शताब्दी के तृतीय चरण और सातवीं शताब्दी के तृतीय चरण का मध्यवर्ती काल निर्धारित किया गया है, वही समुचित प्रतीत होता है,** जब तक कि कोई प्रबल प्रमाण उसके विरोध में सामने न लाया जावे। जिन दूसरे विद्वानों ने इस समय से पूर्व की अथवा उत्तरसमय की कल्पना की है, वह सब उक्त तीन सिद्धसेनों को एक मानकर उनमें से किसी एक के ग्रन्थ को मुख्य करके की गई है अर्थात् पूर्व का समय कतिपय द्वात्रिंशिकाओं के उल्लेखों को लक्ष्य करके और उत्तर का समय न्यायावतार को लक्ष्य करके कल्पित किया गया है। इस तरह तीन सिद्धसेनों की एकत्वमान्यता ही सन्मतिसूत्रकार के ठीक समय निर्णय में प्रबल बाधक रही है, इसी के कारण एक सिद्धसेन के विषय अथवा तत्सम्बन्धी घटनाओं को दूसरे सिद्धसेनों के साथ जोड़ दिया गया है, और यही वजह है कि प्रत्येक सिद्धसेन का परिचय थोड़ा-बहुत खिचड़ी बना हुआ है।" (पु.जै.वा.सू./प्रस्ता./पृ. १५७)।

८

## सन्मतिसूत्रकार सिद्धसेन : दिगम्बराचार्य

"अब विचारणीय यह है कि सन्मतिसूत्र के कर्ता सिद्धसेन किस सम्प्रदाय के आचार्य थे अर्थात् दिगम्बरसम्प्रदाय से सम्बन्ध रखते हैं या श्वेताम्बरसम्प्रदाय से, और किस रूप में उनका गुण-कीर्तन किया गया है। आचार्य उमास्वाति (मी) और स्वामी समन्तभद्र की तरह सिद्धसेनाचार्य की मान्यता दोनों सम्प्रदायों में पायी जाती है। यह मान्यता केवल विद्वत्ता के नाते आदर-सत्कार के रूप में नहीं और न उनके किसी मन्तव्य अथवा उनके द्वारा प्रतिपादित किसी वस्तुतत्त्व या सिद्धान्त-विशेष का ग्रहण करने के कारण ही है, बल्कि उन्हें अपने-अपने सम्प्रदाय के गुरुरूप में माना गया है, गुर्वावलियों तथा पट्टावलियों में उनका उल्लेख किया गया है और उसी गुरुदृष्टि से उनके स्मरण, अपनी गुणज्ञता को साथ में व्यक्त करते हुए, लिखे गये हैं अथवा उन्हें अपनी श्रद्धाञ्जलियाँ अर्पित की गई हैं। (पु.जै.वा.सू./प्रस्ता./पृ. १५७)।

Scanned with OKEN Scanner

### ८.१. दिगम्बर-सेनगण के आचार्य

"दिगम्बरसम्प्रदाय में सिद्धसेन को सेनगण (संघ) का आचार्य माना जाता है और सेनगण की पट्टावली[५६] में उनका उल्लेख है। हरिवंशपुराण को शकसंवत् ७०५ में बनाकर समाप्त करनेवाले श्रीजिनसेनाचार्य ने पुराण के अन्त में दी हुई अपनी गुर्वावली में सिद्धसेन के नाम का भी उल्लेख किया है[५७] और **हरिवंश** के प्रारम्भ में समन्तभद्र के स्मरणानन्तर सिद्धसेन का जो गौरवपूर्ण स्मरण किया है, वह इस प्रकार है—

**जगत्प्रसिद्धबोधस्य वृषभस्येव निस्तुषाः।**
**बोधयन्ति सतां बुद्धिं सिद्धसेनस्य सूक्तयः॥ १/३०॥**

"इसमें बतलाया गया है कि सिद्धसेनाचार्य की निर्मल सूक्तियाँ (सुन्दर उक्तियाँ) जगत्प्रसिद्ध बोध (केवलज्ञान) के धारक (भगवान्) वृषभदेव की निर्दोष सूक्तियों की तरह सत्पुरुषों की बुद्धि को बोधित करती हैं, विकसित करती हैं।"

"यहाँ सूक्तियों में **सन्मति** के साथ कुछ द्वात्रिंशिकाओं की उक्तियाँ भी शामिल समझी जा सकती हैं।

"उक्त जिनसेन-द्वारा प्रशंसित भगवज्जिनसेन ने आदिपुराण में सिद्धसेन को अपनी हार्दिक श्रद्धांजलि अर्पित करते हुए उनके जो महत्त्व का कीर्तन एवं जयघोष किया है, वह यहाँ खासतौर से ध्यान देने योग्य है—

**कवयः सिद्धसेनाद्या वयं तु कवयो मताः।**
**मणयः पद्मरागाद्या ननु काचोऽपि मेचकः॥ १/३९॥**

**प्रवादि-करियूथानां केशरी नयकेशरः।**
**सिद्धसेन—कविर्जीयाद्विकल्प—नखराङ्कुरः॥ १/४२॥**

"इन पद्यों में से प्रथम पद्य में भगवज्जिनसेन, जो स्वयं एक बहुत बड़े कवि हुए हैं, लिखते हैं कि 'कवि तो (वास्तव में) सिद्धसेनादिक हैं, हम तो कवि मान लिये गये हैं। (जैसे) मणि तो वास्तव में पद्मरागादि हैं, किन्तु काच भी (कभी-कभी किन्हीं के द्वारा) मेचकमणि समझ लिया जाता है।' और दूसरे पद्य में यह घोषणा करते हैं कि 'जो प्रवादिरूप हाथियों के समूह के लिये विकल्परूप-नुकीले नखों से युक्त और नयरूप केशरों को धारण किये हुए केशरीसिंह हैं, वे सिद्धसेन कवि जयवन्त हों, अपने प्रवचन-द्वारा मिथ्यावादियों के मतों का निरसन करते हुए

---

५६. जैनसिद्धान्तभास्कर / किरण १ / पृ. ३८।

५७. ससिद्धसेनोऽभय-भीमसेनकौ गुरू परौ तौ जिन-शान्ति-सेनकौ॥ ६६ / २९॥

Scanned with OKEN Scanner

सदा ही लोकहृदयों में अपना सिक्का जमाए रक्खें, अपने वचन-प्रभाव को अङ्कित किये रहें।'

"यहाँ सिद्धसेन का कविरूप में स्मरण किया गया है और उसी में उनके वादित्वगुण को भी समाविष्ट किया गया है। प्राचीन समय में कवि साधारण कविता-शायरी करनेवालों को नहीं कहते थे, बल्कि उस प्रतिभाशाली विद्वान् को कहते थे, जो नये-नये सन्दर्भ, नई-नई मौलिक रचनाएँ तैयार करने में समर्थ हो अथवा प्रतिभा ही जिसका उज्जीवन हो, जो नाना वर्णनाओं में निपुण हो, कृती हो, नाना अभ्यासों में कुशाग्रबुद्धि हो और व्युत्पत्तिमान् (लौकिक व्यवहारों में कुशल) हो।[५८] दूसरे पद्य में सिद्धसेन को केशरी-सिंह की उपमा देते हुए उसके साथ जो **नय-केशरः** और **विकल्प-नखराङ्कुरः** जैसे विशेषण लगाये गये हैं, उनके द्वारा खासतौर पर **सन्मतिसूत्र** लक्षित किया गया है, जिसमें नयों का ही मुख्यतः विवेचन है और अनेक विकल्पों द्वारा प्रवादियों के मन्तव्यों-मान्यसिद्धान्तों का विदारण (निरसन) किया गया है। इसी सन्मतिसूत्र का जिनसेन ने **जयधवला** में और उनके गुरु वीरसेन ने **धवला** में उल्लेख किया है और उसके साथ घटित किये जानेवाले विरोध का परिहार करते हुए उसे अपना एक मान्य ग्रन्थ प्रकट किया है, जैसा कि इन सिद्धान्तग्रन्थों के उन वाक्यों से प्रकट है, जो इस लेख के प्रारम्भिक फुटनोट में उद्धृत किये जा चुके हैं।

"**नियमसार** की टीका (पद्य ३) में **पद्मप्रभ-मलधारिदेव** ने '**सिद्धान्तोद्धश्रीधवं सिद्धसेनं---वन्दे**' वाक्य के द्वारा **सिद्धसेन** की वन्दना करते हुए उन्हें 'सिद्धान्त की जानकारी एवं प्रतिपादनकौशलरूप उच्चश्री के स्वामी' सूचित किया है। **प्रतापकीर्ति** ने आचार्यपूजा के प्रारंभ में दी हुई गुर्वावली में "**सिद्धान्तपाथोनिधिलब्धपारः श्रीसिद्ध-सेनोऽपि गणस्य सारः**" इस वाक्य के द्वारा सिद्धसेन को 'सिद्धान्तसागर के पारगामी' और 'गण के सारभूत' बतलाया है। **मुनि कनकामर** ने **करकंडुचरिउ** में सिद्धसेन को समन्तभद्र तथा अकलङ्कदेव के समकक्ष 'श्रुतजल के समुद्र'[५९] रूप में उल्लेखित किया है। ये सब श्रद्धांजलिमय दिगम्बर-उल्लेख भी सन्मतिकार-सिद्धसेन से सम्बन्ध रखते हैं, जो खास तौर पर सैद्धान्तिक थे और जिनके इस सैद्धान्तिकत्व का अच्छा आभास ग्रन्थ के अन्तिम काण्ड की उन गाथाओं (६१ आदि) से भी मिलता है, जो श्रुतधर-शब्दसन्तुष्टों, भक्तसिद्धान्तज्ञों और शिष्यगणपरिवृत-बहुश्रुतमन्यों की आलोचना को लिए हुए हैं।"(पु.जै.वा.सू./प्रस्ता./पृ. १५७-१५९)।

---

५८. "कविर्नूतनसन्दर्भः।"
प्रतिभोज्जीवनो नाना-वर्णना-निपुणः कविः।
नानाऽभ्यास-कुशाग्रीयमतिर्व्युत्पत्तिमान् कविः॥ अलङ्कारचिन्तामणि।

५९. "तो सिद्धसेण सुसमंतभद्द अकलंक देव सुअजलसमुद्द।" क.२।

Scanned with OKEN Scanner

## ८.२. सर्वप्रथम हरिभद्रसूरि की 'पञ्चवस्तु' में सन्मतिसूत्रकार सिद्धसेन के लिए 'दिवाकर' उपनाम का प्रयोग

"श्वेताम्बरसम्प्रदाय में आचार्य सिद्धसेन प्रायः **दिवाकर** विशेषण अथवा उपपद (उपनाम) के साथ प्रसिद्धि को प्राप्त हैं। उनके लिये इस विशेषण-पद के प्रयोग का उल्लेख श्वेताम्बरसाहित्य में सबसे पहले हरिभद्रसूरि के **पञ्चवस्तु** ग्रन्थ में देखने को मिलता है, जिसमें उन्हें दुःषमाकालरूप रात्रि के लिये दिवाकर (सूर्य) के समान होने से 'दिवाकर' की आख्या को प्राप्त हुए लिखा है।[६०] इसके बाद से ही यह विशेषण उधर प्रचार में आया जान पड़ता है, क्योंकि श्वेताम्बरचूर्णियों तथा मल्लवादी के नयचक्र-जैसे प्राचीन ग्रन्थों में, जहाँ सिद्धसेन का नामोल्लेख है, वहाँ उनके साथ में 'दिवाकर' विशेषण का प्रयोग नहीं पाया जाता है।[६१] हरिभद्र के बाद विक्रम की ११वीं शताब्दी के विद्वान् अभयदेवसूरि ने सन्मतिटीका के प्रारम्भ में उसे उसी दुःषमाकालरात्रि के अंधकार को दूर करनेवाले के अर्थ में अपनाया है।[६२]

"श्वेताम्बरसम्प्रदाय की पट्टावलियों में विक्रम की छठी शताब्दी आदि की जो प्राचीन पट्टावलियाँ हैं, जैसे **कल्पसूत्रस्थविरावली** (थेरावली), **नन्दीसूत्रपट्टावली**, **दुःषमाकालश्रमणसंघ-स्तव**, उनमें तो सिद्धसेन का कहीं कोई नामोल्लेख ही नहीं है। दुःषमाकालश्रमणसंघ की **अवचूरि** में, जो विक्रम की ९वीं शताब्दी से बाद की रचना है, सिद्धसेन नाम जरूर है, किन्तु उन्हें 'दिवाकर' न लिखकर **प्रभावक** लिखा है और साथ ही धर्माचार्य का शिष्य सूचित किया है, वृद्धवादी का नहीं—"**अत्रान्तरे धर्माचार्य-शिष्य-श्रीसिद्धसेन-प्रभावकः॥**"

"दूसरी विक्रम की १५वीं शताब्दी आदि की बनी हुई पट्टावलियों में भी कितनी ही पट्टावलियाँ ऐसी हैं, जिनमें सिद्धसेन का नाम नहीं है, जैसे कि गुरुपर्वक्रमवर्णन, तपागच्छ-पट्टावलीसूत्र, महावीरपट्टपरम्परा, युगप्रधानसम्बन्ध (लोकप्रकाश) और सूरि-परम्परा। हाँ, तपागच्छपट्टावलीसूत्र की वृत्ति में, जो विक्रम की १७वीं शताब्दी (सं० १६४८) की रचना है, सिद्धसेन का **दिवाकर** विशेषण के साथ उल्लेख जरूर पाया

---

६०. आयरियसिद्धसेणेण सम्मइए पइट्ठिअजसेणं।
दूसमणिसा-दिवागर-कप्पन्तणओ तदक्खेणं॥ १०४८॥

६१. देखिए, सन्मतिसूत्र की गुजराती प्रस्तावना/पृ. ३६, ३७ पर निशीथचूर्णि (उद्देश ४) और दशाचूर्णि के उल्लेख तथा पिछले समय-सम्बन्धी प्रकरण में उद्धृत नयचक्र के उल्लेख।

६२. "इति मन्वान आचार्यो दुषमाऽरसमाश्यामासमयोद्भूतसमस्तजनाहार्दसन्तमसविध्वंसकत्वेना-वाप्तयथार्थाभिधानः सिद्धसेनदिवाकरः तदुपायभूतसम्मत्याख्यप्रकरणकरणे प्रवर्तमानः---स्तवाभिधायिकां गाथामाह।"

Scanned with OKEN Scanner

जाता है। यह उल्लेख मूल पट्टावली की ५वीं गाथा की व्याख्या करते हुए **पट्टाचार्य इन्द्रदिन्नसूरि** के अनन्तर और **दिन्नसूरि** के पूर्व की व्याख्या में स्थित है।[६३] इन्द्रदिन्नसूरि को सुस्थित और सुप्रतिबुद्ध के पट्ट पर दसवाँ पट्टाचार्य बतलाने के बाद **अत्रान्तरे** शब्दों के साथ **कालकसूरि आर्यरवपुट्टाचार्य** और **आर्यमंगु** का नामोल्लेख समयनिर्देश के साथ किया गया है और फिर लिखा है—

**"वृद्धवादी पादलिप्तश्चात्र। तथा सिद्धसेनदिवाकरो येनोज्जयिन्यां महाकाल-प्रासाद-रुद्रलिङ्गस्फोटनं विधाय कल्याणमन्दिरस्तवेन श्रीपार्श्वनाथबिम्बं प्रकटीकृतं, श्रीविक्रमादित्यश्च प्रतिबोधितस्तद्राज्यं तु श्रीवीरसप्ततिवर्षशतचतुष्टये ४७० सञ्जा-तम्।"**

"इसमें वृद्धवादी और पादलिप्त के बाद सिद्धसेनदिवाकर का नामोल्लेख करते हुए उन्हें उज्जयिनी महाकालमन्दिर के रुद्रलिङ्ग का कल्याणमन्दिरस्तोत्र के द्वारा स्फोटन करके श्री पार्श्वनाथ के बिम्ब को प्रकट करनेवाला और विक्रमादित्य राजा को प्रतिबोधित करनेवाला लिखा है। साथ ही विक्रमादित्य राज्य वीरनिर्वाण से ४७० वर्ष बाद हुआ निर्दिष्ट किया है, और इस तरह सिद्धसेनदिवाकर को विक्रम की प्रथम शताब्दी का विद्वान् बतलाया है, जो कि उल्लेखित विक्रमादित्य को गलतरूप में समझने का परिणाम है। विक्रमादित्य नाम के अनेक राजा हुए हैं। यह विक्रमादित्य वह विक्रमादित्य नहीं है, जो प्रचलित संवत् का प्रवतर्क है, इस बात को पं० सुखलालजी आदि ने भी स्वीकार किया है। अस्तु, तपागच्छ-पदावली की यह वृत्ति जिन आधारों पर निर्मित हुई है, उनमें प्रधान पद तपागच्छ की मुनि सुन्दरसूरिकृत गुर्वावली को दिया गया है, जिसका रचनाकाल विक्रम संवत् १४६६ है। परन्तु इस पट्टावली में भी सिद्धसेन का नामोल्लेख नहीं है। उक्त वृत्ति से कोई १०० वर्ष बाद के (वि० सं० १७३९ के बाद के) बने हुए **पट्टावलीसारोद्धार** ग्रन्थ में सिद्धसेनदिवाकर का उल्लेख प्रायः उन्हीं शब्दों में दिया है, जो उक्त वृत्ति में **'तथा'** से **'संजातं'** तक पाये जाते हैं।[६४] और यह उल्लेख इन्द्रदिन्नसूरि के बाद **अत्रान्तरे** शब्दों के साथ मात्र **कालकसूरि** के उल्लेखा-नन्तर किया गया है–**आयखपुट, आर्यमंगु, वृद्धवादी** और **पादलिप्त** नाम के आचार्यों का कालकसूरि के अनन्तर और सिद्धसेन के पूर्व में कोई उल्लेख ही नहीं किया है। वि० सं० १७८६ से भी बाद की बनी हुई **श्रीगुरुपट्टावली** में भी सिद्धसेनदिवाकर

---

६३. देखिए , मुनि दर्शनविजय-द्वारा सम्पादित 'पट्टावलीसमुच्चय'/ प्रथम भाग।

६४. "तथा श्रीसिद्धसेनदिवाकरोपि जातो येनोज्जयिन्यां महाकालप्रासादे रुद्रलिंगस्फोटनं कृत्वा कल्याणमन्दिरस्तवनेन श्रीपार्श्वनाथबिम्बं प्रकटीकृत्य श्रीविक्रमादित्यराजापि प्रतिबोधितः श्रीवीरनिर्वाणात् सप्ततिवर्षाधिकशतचतुष्टये ४७०ऽतिक्रमे श्रीविक्रमादित्यराज्यं सञ्जातम्॥" १०॥ पट्टावलीसमुच्चय / पृ. १५०।

Scanned with OKEN Scanner

का नाम उज्जयिनी की लिङ्गस्फोटन-सम्बन्धी घटना के साथ उल्लिखित है।''[६५] (पु. जै.वा.सू./प्रस्ता./पृ.१५९-१६०)।

''इस तरह श्वे. पट्टावलियों-गुर्वावलियों में सिद्धसेन का दिवाकररूप में उल्लेख विक्रम की १५वीं शताब्दी के उत्तरार्ध से पाया जाता है, कतिपय प्रबन्धों में उनके इस विशेषण का प्रयोग सौ-दो सौ वर्ष और पहले से हुआ जान पड़ता है। रही **स्मरणों** की बात, उनकी भी प्रायः ऐसी ही हालत है, कुछ **स्मरण** दिवाकर-विशेषण को साथ में लिये हुए हैं और कुछ नहीं (लिये हुए) हैं। श्वेताम्बरसाहित्य से सिद्धसेन के श्रद्धांजलिरूप जो भी स्मरण अभी तक प्रकाश में आये हैं, वे प्रायः इस प्रकार हैं—

क— **उदितोऽर्हन्मत-व्योम्नि सिद्धसेनदिवाकरः।**
**चित्रं गोभिः क्षितौ जह्रे कविराज-बुध-प्रभा॥**

''यह विक्रम की १३वीं शताब्दी (वि० सं० १२५२) के ग्रन्थ **अममचरित्र** का पद्य है। इसमें **रत्नसूरि** अलंकारभाषा को अपनाते हुए कहते हैं कि ''अर्हन्मतरूपी आकाश में सिद्धसेन दिवाकर का उदय हुआ है, आश्चर्य है कि उसकी वचनरूप-किरणों से पृथ्वी पर कविराज की (वृहस्पतिरूप 'शेष' कवि की) और बुध की (बुधग्रहरूप विद्वद्वर्ग) की प्रभा लज्जित हो गई (फीकी पड़ गई) है।''

ख— **तमःस्तोमं स हन्तुं श्रीसिद्धसेनदिवाकरः।**
**यस्योदये स्थितं मूकैरुलूकैरिव वादिभिः॥**

''यह विक्रमकी १४वीं शताब्दी (सं० १३२४) के ग्रन्थ **समरादित्य** का वाक्य है, जिसमें **प्रद्युम्नसूरि** ने लिखा है कि ''वे श्री सिद्धसेन दिवाकर (अज्ञान) अंधकार के समूह को नाश करें, जिनके उदय होने पर वादीजन उल्लुओं की तरह मूक हो रहे थे, उन्हें कुछ बोल नहीं आता था।''

ग— **श्रीसिद्धसेन-हरिभद्रमुखाः प्रसिद्धा-**
**स्तेसूरयो मयि भवन्तु कृतप्रसादाः।**
**येषां विमृश्य सततं विविधान्निबन्धान्**
**शास्त्रं चिकीर्षति तनुप्रतिभोऽपि मादृक्॥**

''यह **स्याद्वादरत्नाकर** का पद्य है। इसमें १२वीं-१३वीं शताब्दी के विद्वान् **वादिदेवसूरि** लिखते हैं कि ''श्रीसिद्धसेन और हरिभद्र जैसे प्रसिद्ध आचार्य मेरे ऊपर

---

६५. ''तथा श्रीसिद्धसेनदिवाकरेणोज्जयिनीनगर्यां महाकालप्रासादे लिंगस्फोटनं विधाय स्तुत्या ११ काव्ये श्रीपार्श्वनाथबिम्बं प्रकृटीकृतं, कल्याणमन्दिरस्तोत्रं कृतं।'' पट्टावलीसमुच्चय / पृ. १६६।

प्रसन्न होवें, जिनके विविध निबन्धों पर बार-बार विचार करके मेरे जैसा अल्प-प्रतिभा का धारक भी प्रस्तुत शास्त्र के रचने में प्रवृत्त होता है।''

घ— **क्व सिद्धसेन-स्तुतयो महार्था**
**अशिक्षितालापकला क्व चैषा।**
**तथाऽपि यूथाधिपतेः पथस्थः**
**स्खलद्गतिस्तस्य शिशुर्न शोच्यः॥**

''यह विक्रम की १२वीं-१३वीं शताब्दी के विद्वान् आचार्य हेमचन्द्र की एक द्वात्रिंशिकास्तुति का पद्य है। इसमें हेमचन्द्रसूरि सिद्धसेन के प्रति अपनी श्रद्धाञ्जलि अपर्ण करते हुए लिखते हैं कि ''कहाँ तो सिद्धसेन की महान् अर्थवाली गम्भीर स्तुतियाँ और कहाँ अशिक्षित मनुष्यों के आलाप-जैसी मेरी यह रचना? फिर भी यूथ के अधिपति गजराज के पथ पर चलता हुआ उसका बच्चा (जिस प्रकार) स्खलितगति होता हुआ भी शोचनीय नहीं होता, उसी प्रकार मैं भी अपने यूथाधिपति आचार्य के पथ का अनुसरण करता हुआ स्खलितगति होने पर शोचनीय नहीं हूँ।''

''यहाँ **स्तुतयः, यूथाधिपतेः** और **तस्य शिशुः** ये पद खासतौर से ध्यान देने योग्य हैं। 'स्तुतयः' पद के द्वारा सिद्धसेनीय ग्रन्थों के रूप में उन द्वात्रिंशिकाओं की सूचना की गई है, जो स्तुत्यात्मक हैं और शेष पदों के द्वारा सिद्धसेन को अपने सम्प्रदाय का प्रमुख आचार्य और अपने को उनका परम्परा शिष्य घोषित किया गया है। इस तरह **श्वेताम्बरसम्प्रदाय के आचार्यरूप में यहाँ वे सिद्धसेन विवक्षित हैं, जो कतिपय स्तुतिरूप द्वात्रिंशिकाओं के कर्ता हैं,** न कि वे सिद्धसेन, जो कि स्तुत्येतर द्वात्रिंशिकाओं के अथवा खासकर सन्मतिसूत्र के रचयिता हैं। श्वेताम्बरीय प्रबन्धों में भी, जिनका कितना ही परिचय ऊपर आ चुका है, उन्हीं सिद्धसेन का उल्लेख मिलता है, जो प्रायः **द्वात्रिंशिकाओं** अथवा **द्वात्रिंशद्द्वात्रिंशिका-स्तुतियों** के कर्तारूप में विवक्षित हैं। **सन्मतिसूत्र का उन प्रबन्धों में कहीं कोई उल्लेख ही नहीं है।''** (पु.जै.वा.सू./प्रस्ता./पृ.१६०-१६१)।

### ८.३. नामसाम्य के कारण 'दिवाकर' उपनाम अन्य सिद्धसेनों के भी साथ जुड़ गया

''ऐसी स्थिति में **सन्मतिकार सिद्धसेन** के लिये जिस **दिवाकर** विशेषण का हरिभद्रसूरि ने स्पष्टरूप से उल्लेख किया है, वह बाद को नाम-साम्यादि के कारण द्वात्रिंशिकाओं के कर्ता सिद्धसेन एवं न्यायावतार के कर्ता सिद्धसेन के साथ भी जुड़ गया मालूम होता है और संभवतः इस विशेषण के जुड़ जाने के कारण ही तीनों सिद्धसेन एक ही समझ लिये गये जान पड़ते हैं। अन्यथा, पं० सुखलाल जी आदि

के शब्दों (प्र./ पृ.१०३) में 'जिन द्वात्रिंशिकाओं का स्थान सिद्धसेन के ग्रन्थों में चढ़ता हुआ है' उन्हीं के द्वारा सिद्धसेन को प्रतिष्ठितयश बतलाना चाहिये था, परन्तु हरिभद्रसूरि ने वैसा न करके **सन्मति** के द्वारा सिद्धसेन का प्रतिष्ठितयश होना प्रतिपादित किया है और **इससे यह साफ ध्वनि निकलती है कि 'सन्मति' के द्वारा प्रतिष्ठितयश होनेवाले सिद्धसेन उन सिद्धसेन से प्रायः भिन्न हैं, जो द्वात्रिंशिकाओं को रचकर यशस्वी हुए हैं।**''(पु.जै.वा.सू./प्रस्ता./पृ. १६१-१६२)।

### ८.४. रविषेण के पद्मचरित में 'दिवाकरयति' का उल्लेख

''हरिभद्रसूरि के कथनानुसार जब **सन्मति** के कर्ता सिद्धसेन **दिवाकर** की आख्या को प्राप्त थे, तब वे प्राचीनसाहित्य में सिद्धसेन नाम के बिना 'दिवाकर' नाम से भी उल्लेखित होने चाहिये, उसी प्रकार जिस प्रकार कि समन्तभद्र **स्वामी** नाम से उल्लेखित मिलते हैं।[६६] खोज करने पर श्वेताम्बरसाहित्य में इसका एक उदाहरण **'अजरक्खनंदिसेणो'** नाम की उस गाथा में मिलता है, जिसे **मुनि पुण्यविजय** जी ने अपने 'छेदसूत्रकार और निर्युक्तिकार' नामक लेख में **'पावयणी धम्मकहा'** नाम की गाथा के साथ उद्धृत किया है और जिसमें आठ प्रभावक आचार्यों की नामावली देते हुए **दिवायरो** पद के द्वारा सिद्धसेनदिवाकर का नाम भी सूचित किया गया है। ये दोनों गाथाएँ पिछले समयादि-सम्बन्धी प्रकरण के एक फुटनोट में (देखिए, पा.टि.२८) उक्त लेख की चर्चा करते हुए उद्धृत की जा चुकी हैं। दिगम्बरसाहित्य में **दिवाकर** का यतिरूप से एक उल्लेख **रविषेणाचार्य** के **पद्मचरित** की **प्रशस्ति** के निम्न वाक्य में पाया जाता है, जिसमें उन्हें इन्द्र-गुरु का शिष्य, अर्हन्मुनिका गुरु और रविषेण के गुरु लक्ष्मणसेन का दादागुरु प्रकट किया है—

**आसीदिन्द्रगुरोर्दिवाकरयतिः शिष्योऽस्य चार्हन्मुनिः।**
**तस्माल्लक्ष्मणसेनसन्मुनिरदः शिष्यो रविस्तु स्मृतम्॥ १२३/१६७॥**

''इस पद्यमें उल्लिखित **दिवाकरयति** का **सिद्धसेनदिवाकर** होना दो कारणों से अधिक सम्भव जान पड़ता है, एक तो समय की दृष्टि से और दूसरे गुरु-नाम की दृष्टि से। **पद्मचरित** वीरनिर्वाण से १२०३ वर्ष, ६ महीने बीतने पर अर्थात् विक्रमसंवत् ७३४ में बनकर समाप्त हुआ है,[६७] इससे रविषेण के पड़दादा (गुरु के दादा) गुरु का समय लगभग एक शताब्दी पूर्व का अर्थात् विक्रम की ७वीं शताब्दी के द्वितीय चरण (६२६-६५०) के भीतर आता है, जो सन्मतिकार सिद्धसेन के लिये ऊपर निश्चित

---

६६. देखिये, मणिकचन्द्र-ग्रन्थमाला में प्रकाशित रत्नकरण्डश्रावकाचार की प्रस्तावना/पृ.८।

६७. द्विशताभ्यधिके समासहस्रे समतीतेऽर्द्धचतुष्कवर्षयुक्ते।
जिनभास्कर-वर्द्धमान-सिद्धे चरितं पद्ममुनेरिदं निबद्धम्॥ १२३/१८१॥

किया गया है। दिवाकर के गुरु का नाम यहाँ इन्द्र दिया है, जो इन्द्रसेन या इन्द्रदत्त आदि किसी नाम का संक्षिप्तरूप अथवा एकदेश मालूम होता है। श्वेताम्बरपट्टावलियों में जहाँ सिद्धसेनदिवाकर का नामोल्लेख किया है, वहाँ **इन्द्रदिन्न** नामक पट्टाचार्य के बाद **अन्नान्तरे** जैसे शब्दों के साथ उस नाम की वृद्धि की गई है। हो सकता है कि सिद्धसेनदिवाकर के गुरु का नाम इन्द्र-जैसा होने और सिद्धसेन का सम्बन्ध **आद्य विक्रमादित्य** अथवा **संवत्प्रवर्त्तक विक्रमादित्य** के साथ समझ लेने की भूल के कारण ही सिद्धसेनदिवाकर को इन्द्रदिन्न आचार्य की पट्टबाह्य-शिष्यपरम्परा में स्थान दिया गया हो। यदि यह कल्पना ठीक है और उक्त पद्य में **दिवाकरयतिः** पद सिद्धसेनाचार्य का वाचक है, तो कहना होगा कि **सिद्धसेनदिवाकर रविषेणाचार्य के पड़दादा गुरु होने से दिगम्बरसम्प्रदाय के आचार्य थे।** अन्यथा, यह कहना अनुचित न होगा कि सिद्धसेन अपने जीवन में **दिवाकर** की आख्या को प्राप्त नहीं थे, उन्हें यह नाम अथवा विशेषण बाद को हरिभद्रसूरि अथवा उनके निकटवर्ती किसी पूर्वाचार्य ने अलङ्कार की भाषा में दिया है और इसी से सिद्धसेन के लिये उसका स्वतन्त्र उल्लेख प्राचीन साहित्य में प्रायः देखने को नहीं मिलता। श्वेताम्बरसाहित्य का जो एक उदाहरण ऊपर दिया गया है, वह **रत्नशेखरसूरिकृत गुरुगुणषट्त्रिंशत्-षट्त्रिंशिका** की स्वोपज्ञवृत्ति का एकवाक्य होने के कारण ५०० वर्ष से अधिक पुराना मालूम नहीं होता और इसलिये वह सिद्धसेन की दिवाकररूप में बहुत बाद की प्रसिद्धि से सम्बन्ध रखता है। आजकल तो सिद्धसेन के लिये 'दिवाकर' नाम के प्रयोग की बाढ़-सी आ रही है, परन्तु अतिप्राचीन काल में वैसा कुछ भी मालूम नहीं होता।" (पु.जै.वा.सू./प्रस्ता./पृ. १६२-१६३)।

"यहाँ पर एक बात और भी प्रकट कर देने की है और यह कि उक्त श्वेताम्बर-प्रबन्धों तथा पट्टावलियों में सिद्धसेन के साथ उज्जयिनी के महाकालमन्दिर में लिङ्गस्फोटनादि-सम्बन्धिनी जिस घटना का उल्लेख मिलता है, उसका वह उल्लेख दिगम्बरसम्प्रदाय में भी पाया जाता है, जैसा कि सेनगण की पट्टावली के निम्न वाक्य से प्रकट है—

"**(स्वस्ति) श्रीमदुज्जयिनीमहाकाल-संस्थापन-महाकाललिङ्गमहीधर-वाग्वज्र-दण्डविष्ट्याविष्कृत-श्रीपार्श्वतीर्थेश्वर-प्रतिद्वन्द्व-श्रीसिद्धसेनभट्टारकाणाम्॥ १४॥**"

"ऐसी स्थिति में द्वात्रिंशिकाओं के कर्ता सिद्धसेन के विषय में भी सहज अथवा निश्चितरूप से यह नहीं कहा जा सकता कि वे एकान्ततः श्वेताम्बरसम्प्रदाय के थे, सन्मतिसूत्र के कर्ता सिद्धसेन की तो बात ही जुदी है।

### ८.५. दूसरी, पाँचवीं द्वात्रिंशिकाओं में युगपद्वाद एवं स्त्रीवेदी-पुरुष-मुक्ति मान्य

"परन्तु 'सन्मति' की प्रस्तावना में पं० सुखलाल जी और पण्डित बेचरदास जी ने उन्हें एकान्ततः श्वेताम्बरसम्प्रदाय का आचार्य प्रतिपादित किया है, लिखा है

कि 'वे श्वेताम्बर थे, दिगम्बर नहीं' (पृ. १०४)। परन्तु इस बात को सिद्ध करनेवाला कोई समर्थ कारण नहीं बतलाया, कारणरूप में केवल इतना ही निर्देश किया है कि 'महावीर के गृहस्थाश्रम तथा चमरेन्द्र के शरणागमन की बात सिद्धसेन ने वर्णन की है, जो दिगम्बरपरम्परा में मान्य नहीं, किन्तु श्वेताम्बर-आगमों के द्वारा निर्विवादरूप से मान्य है।' और इसके लिये फुटनोट में **५वीं द्वात्रिंशिका के छठे** और **दूसरी द्वात्रिंशिका के तीसरे** पद्य को देखने की प्रेरणा की है, जो निम्न प्रकार हैं—

**अनेकजन्मान्तरभग्नमानः स्मरो यशोदाप्रिय यत्पुरस्ते।**
**चचार निर्ह्रीकशरस्तमर्थं त्वमेव विद्यासु नयज्ञ कोऽन्यः॥ ५/६॥**

**कृत्वा नवं सुरवधूभयरोमहर्षं दैत्याधिपः शतमुखभ्रकुटीवितानः।**
**त्वत्पादशान्तिगृहसंश्रयलब्धचेता लज्जातनुद्युति हरेः कुलिशं चकार॥ २/३॥**

"इनमें से प्रथम पद्य में लिखा है कि "हे यशोदाप्रिय! दूसरे अनेक जन्मों में भग्नमान हुआ कामदेव निर्लज्जतारूपी बाण को लिये हुए जो आपके सामने कुछ चला है, उसके अर्थ को आप ही नय के ज्ञाता जानते हैं, दूसरा और कौन जान सकता है? अर्थात् यशोदा के साथ आपके वैवाहिक सम्बन्ध अथवा रहस्य को समझने के लिये हम असमर्थ हैं।" दूसरे पद्य में देवाऽसुर-संग्राम के रूप में एक घटना का उल्लेख है, "जिसमें दैत्याधिप असुरेन्द्र ने सुरवधुओं को भयभीतकर उनके रोंगटे खड़े कर दिये। इससे इन्द्र की भ्रकुटी तन गई और उसने उस पर वज्र छोड़ा, असुरेन्द्र ने भागकर वीर भगवान् के चरणों का आश्रय लिया, जो कि शान्ति के धाम हैं और उनके प्रभाव से वह इन्द्र के वज्र को लज्जा से क्षीणद्युति करने में समर्थ हुआ।"

"अलंकृत भाषा में लिखी गई इन दोनों पौराणिक घटनाओं का श्वेताम्बरसिद्धान्तों के साथ कोई खास सम्बन्ध नहीं है और इसलिये इनके इस रूप में उल्लेख मात्र पर से यह नहीं कहा जा सकता कि इन पद्यों के लेखक सिद्धसेन वास्तव में यशोदा के साथ भगवान् महावीर का विवाह होना और असुरेन्द्र (चमरेन्द्र) का सेना सजाकर तथा अपना भयंकर रूप बनाकर युद्ध के लिये स्वर्ग में जाना आदि मानते थे, और इसलिये श्वेताम्बर-सम्प्रदाय के आचार्य थे, क्योंकि प्रथम तो श्वेताम्बरों के **आवश्यक-निर्युक्ति** आदि कुछ प्राचीन आगमों में भी दिगम्बर आगमों की तरह **भगवान् महावीर को कुमार श्रमण के रूप में अविवाहित प्रतिपादित किया है**[६८] और असुरकुमार-जातिविशिष्ट-भवनवासी देवों के अधिपति चमरेन्द्र का युद्ध की भावना को लिये हुए

---

६८. देखिए , आवश्यकनिर्युक्ति गाथा २२१, २२२, २२६ तथा अनेकान्त / वर्ष ४ / कि. ११-१२ / पृ. ५७९ पर प्रकाशित 'श्वेताम्बरों में भी भगवान् महावीर के अविवाहित होने की मान्यता' नामक लेख। (पु.जै.वा.सू./ प्रस्ता./पृ. १६४)।

सैन्य सजाकर स्वर्ग में जाना सैद्धान्तिक मान्यताओं के विरुद्ध जान पड़ता है। दूसरे, यह कथन परवक्तव्य के रूप में भी हो सकता है और आगमसूत्रों में कितना ही कथन परवक्तव्य के रूप में पाया जाता है, इसकी स्पष्ट सूचना सिद्धसेनाचार्य ने **सन्मति-सूत्र** में की है और लिखा है कि ज्ञातापुरुष को (युक्ति-प्रमाण-द्वारा) अर्थ की सङ्गति के अनुसार ही उनकी व्याख्या करनी चाहिये।''[६९] (पु.जै.वा.सू./प्रस्ता./पृ.१६३-१६४)।

''यदि किसी तरह पर यह मान लिया जाय कि उक्त दोनों पद्यों में जिन घटनाओं का उल्लेख है, वे परवक्तव्य या अलङ्कारादि के रूप में न होकर शुद्ध श्वेताम्बरीय मान्यताएँ हैं, तो **इससे केवल इतना ही फलित हो सकता है कि इन दोनों द्वात्रिंशिकाओं (२, ५) के कर्ता जो सिद्धसेन हैं, वे श्वेताम्बर थे। इससे अधिक यह फलित नहीं हो सकता कि दूसरी द्वात्रिंशिकाओं तथा सन्मतिसूत्र के कर्ता सिद्धसेन भी श्वेताम्बर थे,** जब तक कि प्रबल युक्तियों के बल पर इन सब ग्रन्थों का कर्ता एक ही सिद्धसेन को सिद्ध न कर दिया जाय, परन्तु वह सिद्ध नहीं है, जैसा कि पिछले एक प्रकरण में व्यक्त किया जा चुका है। और फिर इस के फलित होने में भी एक बाधा और आती है और वह यह कि इन द्वात्रिंशिकाओं में कोई कोई बात ऐसी भी पाई जाती है, जो इनके शुद्ध श्वेताम्बरकृतियाँ होने पर नहीं बनती, जिसका एक उदाहरण तो इन दोनों में **उपयोगद्वय के युगपद्वाद का प्रतिपादन** है, जिसे पहले प्रदर्शित किया जा चुका है और जो दिगम्बरपरम्परा का सर्वोपरि मान्य सिद्धान्त है तथा श्वेताम्बर-आगमों की क्रमवाद-मान्यता के विरुद्ध जाता है। दूसरा उदाहरण पाँचवीं द्वात्रिंशिका का निम्न वाक्य है—

**नाथ त्वया देशितसत्पथस्थाः स्त्रीचेतसोऽप्याशु जयन्ति मोहम्।**
**नैवाऽन्यथा शीघ्रगतिर्यथा गां प्राचीं यियासुर्विपरीतयायी॥ २५॥**

''इसके पूर्वार्ध में बतलाया है कि ''हे नाथ! वीरजिन! आपके बतलाये हुए सन्मार्ग पर स्थित वे पुरुष भी शीघ्र मोह को जीत लेते हैं (मोहनीयकर्म के सम्बन्ध का अपने आत्मा से पूर्णतः विच्छेद कर देते हैं) जो **स्त्रीचेतसः** होते हैं (स्त्रियों जैसा चित्त (भाव) रखते हैं) अर्थात् **भावस्त्री** होते हैं।'' और इससे यह साफ ध्वनित है कि स्त्रियाँ मोह को पूर्णतः जीतने में समर्थ नहीं होतीं, तभी स्त्रीचित्त के लिये मोह को जीतने की बात गौरव को प्राप्त होती है। श्वेताम्बरसम्प्रदाय में जब स्त्रियाँ भी पुरुषों की तरह मोह पर पूर्ण विजय प्राप्त करके उसी भव से मुक्ति को प्राप्त कर सकती हैं, तब एक श्वेताम्बर विद्वान् के इस कथन में कोई महत्त्व मालूम नहीं होता

---

६९. परवत्तव्वयपक्खा अविसिट्ठा तेसु तेसु सुत्तेसु।
अत्थगईअ उ तेसिं वियंजणं जाणओ कुणइ॥ २/१८॥ सन्मतिसूत्र।

कि '**स्त्रियों-जैसा चित्त रखनेवाले पुरुष भी शीघ्र मोह को जीत लेते हैं**', वह निरर्थक जान पड़ता है। इस कथन का महत्त्व दिगम्बर विद्वानों के मुख से उच्चरित होने में ही है, जो स्त्री को मुक्ति की अधिकारिणी नहीं मानते फिर भी **स्त्रीचित्तवाले भावस्त्री-पुरुषों के लिये मुक्ति का विधान करते हैं।** अतः इस वाक्य के प्रणेता सिद्धसेन दिगम्बर होने चाहिये, न कि श्वेताम्बर, और यह समझना चाहिये कि उन्होंने इसी द्वात्रिंशिका के छठे पद्य में **यशोदाप्रिय** पद के साथ जिस घटना का उल्लेख किया है, वह अलङ्कार की प्रधानता को लिये हुए परवक्तव्य के रूप में उसी प्रकार का कथन है, जिस प्रकार कि ईश्वर को कर्ता-हर्ता न माननेवाला एक जैन कवि ईश्वर को उलाहना अथवा उसकी रचना में दोष देता हुआ लिखता है—

**हे विधि! भूल भई तुमतैं, समुझे न कहाँ कस्तूरि बनाई !**
**दीन कुरङ्गन के तन में, तृन दन्त धरैं करुना नहिं आई !!**
**क्यों न रची तिन जीभनि जे रस-काव्य करैं पर को दुखदाई !**
**साधु-अनुग्रह दुर्जन-दण्ड, दुहूँ सधते विसरी चतुराई !!**

"इस तरह **सन्मति** के कर्ता सिद्धसेन को श्वेताम्बर सिद्ध करने के लिये जो द्वात्रिंशिकाओं के उक्त दो पद्य उपस्थित किये गये हैं, उनसे सन्मतिकार सिद्धसेन का श्वेताम्बर सिद्ध होना तो दूर रहा, उन द्वात्रिंशिकाओं के कर्ता सिद्धसेन का भी श्वेताम्बर होना प्रमाणित नहीं होता, जिनके उक्त दोनों पद्य अङ्गरूप हैं। श्वेताम्बरत्व की सिद्धि के लिये दूसरा और कोई प्रमाण उपस्थित नहीं किया गया और इससे यह भी साफ मालूम होता है कि स्वयं **सन्मतिसूत्र** में ऐसी कोई बात नहीं है, जिससे उसे दिगम्बरकृति न कहकर श्वेताम्बरकृति कहा जा सके, अन्यथा उसे जरूर उपस्थित किया जाता। **सन्मति में ज्ञान-दर्शनोपयोग के अभेदवाद** की जो खास बात है, वह **दिगम्बरमान्यता** के अधिक निकट है, दिगम्बरों के **युगपद्वाद** पर से ही फलित होती है, न कि श्वेताम्बरों के **क्रमवाद** पर से, जिसके खण्डन में युगपद्वाद की दलीलों को सन्मति में अपनाया गया है। और श्रद्धात्मक दर्शन तथा सम्यग्ज्ञान के अभेदवाद की जो बात **सन्मति** द्वितीयकाण्ड की गाथा ३२-३३ में कही गई है, उसके बीज **श्री कुन्दकुन्दाचार्य** के **समयसार** ग्रन्थ में पाये जाते हैं। इन बीजों की बात को पं० सुखलाल जी आदि ने भी 'सन्मति' की प्रस्तावना (पृ.६२) में स्वीकार किया है, लिखा है कि "**सन्मतिना** (काण्ड २/गाथा ३२) **श्रद्धा-दर्शन अने ज्ञानना ऐक्यवादनुं बीज कुंदकुंदना समयसार** (गा.१-१३) **मां**[७०] **स्पष्ट छे।**" इसके सिवाय, **समयसार** की '**जो पस्सदि अप्पाणं**' नाम की

---

७०. यहाँ जिस गाथा की सूचना की गई है, वह 'दंसणणाणचरित्ताणि' नाम की १६वीं गाथा है। इसके अतिरिक्त 'ववहारेणुवदिस्सइ णाणिस्स चरित्त दंसणं णाणं' (७), 'सम्मद्दंसणणाणं

१४वीं गाथा में शुद्धनय का स्वरूप बतलाते हुए जब यह कहा गया है कि वह नय आत्मा को अविशेषरूप से देखता है, तब उसमें ज्ञान-दर्शनोपयोग की भेद-कल्पना भी नहीं बनती और इस दृष्टि से **उपयोगद्वय की अभेदवादता** के बीज भी समय-सार में सन्निहित हैं, ऐसा कहना चाहिये।'' (पु.जै.वा.सू./प्रस्ता./पृ. १६४-१६५)।

### ८.६. सन्मतिसूत्र में श्वेताम्बरमान्य क्रमवाद का खण्डन

''हाँ, एक बात यहाँ और भी प्रकट कर देने की है और वह यह कि पं० सुखलाल जी ने **'सिद्धसेनदिवाकरना समयनो प्रश्न'** नामक लेख में [७१] देवनन्दी पूज्यपाद को **'दिगम्बरपरम्परा का पक्षपाती सुविद्वान्'** बतलाते हुए 'सन्मति' के कर्ता सिद्धसेन-दिवाकर को **'श्वेताम्बरपरम्परा का समर्थक आचार्य'** लिखा है, परन्तु यह नहीं बतलाया कि वे किस रूप में श्वेताम्बरपरम्परा के समर्थक हैं। दिगम्बर और श्वेताम्बर में भेद की रेखा खींचनेवाली मुख्यतः तीन बातें प्रसिद्ध हैं—१. स्त्रीमुक्ति, २. केवलिभुक्ति (कवलाहार) और ३. सवस्त्रमुक्ति, जिन्हें श्वेताम्बरसम्प्रदाय मान्य करता और दिगम्बरसम्प्रदाय अमान्य ठहराता है। इन तीनों में से एक का भी प्रतिपादन सिद्धसेन ने अपने किसी ग्रन्थ में नहीं किया है और न इनके अलावा अलंकृत अथवा शृङ्गारित जिनप्रतिमाओं के पूजनादि का ही कोई विधान किया है, जिसके मण्डनादिक की भी सन्मति के टीकाकार अभयदेवसूरि को जरूरत पड़ी है और उन्होंने मूल में वैसा कोई खास प्रसङ्ग न होते हुए भी उसे यों ही टीका में लाकर घुसेड़ा है।[७२] ऐसी स्थिति में सिद्धसेनदिवाकर को दिगम्बरपरम्परा से भिन्न एकमात्र श्वेताम्बरपरम्परा का समर्थक आचार्य कैसे कहा जा सकता है? नहीं कहा जा सकता। सिद्धसेन ने तो श्वेताम्बरपरम्परा की किसी विशिष्ट बात का कोई समर्थन न करके उल्टा उसके उपयोग-द्वय-विषयक क्रमवाद की मान्यता का **सन्मति** में जोरों के साथ खण्डन किया है और इसके लिये उन्हें अनेक साम्प्रदायिक कट्टरता के शिकार श्वेताम्बर आचार्यों का कोपभाजन एवं तिरस्कार का पात्र तक बनना पड़ा है।'' (पु.जै.वा.सू./प्रस्ता./पृ. १६५-१६६)।

---

एदं लहदि त्ति णवरि ववदेसं' (१४४), और 'णाणं सम्मादिट्ठिं दु संजमं सुत्तमंगपुव्वगयं' (४०४) नाम की गाथाओं में भी अभेदवाद के बीज संनिहित हैं। (पु.जै.वा.सू./प्रस्ता./पृ.१६५)।

७१. भारतीयविद्या/तृतीय भाग/पृ. १५४।

७२. देखिए, सन्मति-तृतीयकाण्डगत गाथा ६५ की टीका (पृ. ७५४), जिसमें ''भगवत्प्रतिमाया भूषणाद्यारोपणं कर्मक्षयकारणं'' इत्यादि रूप से मण्डन किया गया है।

Scanned with OKEN Scanner

## ८.७. श्वेताम्बराचार्यों द्वारा सन्मतिसूत्रकार सिद्धसेन की निन्दा

मुनि जिनविजय जी ने **'सिद्धसेनदिवाकर और स्वामी समन्तभद्र'** नामक लेख में[७३] उनके इस विचारभेद का उल्लेख करते हुए लिखा है—

"सिद्धसेन जी के इस विचारभेद के कारण उस समय के सिद्धान्त-ग्रन्थ-पाठी और आगमप्रवण आचार्यगण उनको **तर्कम्मन्य** जैसे तिरस्कार-व्यञ्जक विशेषणों से अलंकृत कर उनके प्रति अपना सामान्य अनादर-भाव प्रकट किया करते थे।"

"इस (विशेषावश्यक) भाष्य में क्षमाश्रमण (जिनभद्र) जी ने दिवाकर जी के उक्त विचारभेद का खूब ही खण्डन किया है और उनको **आगम-विरुद्ध-भाषी** बतलाकर उनके सिद्धान्त को अमान्य बतलाया है।"

"सिद्धसेनगणी ने **'एकादीनि भाज्यानि युगपदेकस्मिन्नाचतुर्भ्यः'** (१/३१) इस सूत्र की व्याख्या में दिवाकर जी के विचारभेद के ऊपर अपने ठीक वाग्बाण चलाये हैं। गणी जी के कुछ वाक्य देखिये—**"यद्यपि केचित्पण्डिमम्मन्याः सूत्रान्यथाकारमर्थ-माचक्षते तर्कबलानुबिद्धबुद्धयो वारंवारेणोपयोगो नास्ति, तत्तु न प्रमाणयामः, यत आम्नाये भूयांसि सूत्राणि वारंवारेणोपयोगं प्रतिपादयन्ति।"** (पु.जै.वा.सू./प्रस्ता./पृ.१६६)।

## ८.८. दिगम्बरसाहित्य में सन्मतिसूत्रकार का गौरवपूर्वक स्मरण

"दिगम्बरसाहित्य में ऐसा एक भी उल्लेख नहीं, जिसमें सन्मतिसूत्र के कर्ता सिद्धसेन के प्रति अनादर अथवा तिरस्कार का भाव व्यक्त किया गया हो। सर्वत्र उन्हें बड़े ही गौरव के साथ स्मरण किया गया है, जैसा कि ऊपर उद्धृत हरिवंशपुराणादि के कुछ वाक्यों से प्रकट है। अकलङ्कदेव ने उनके अभेदवाद के प्रति अपना मतभेद व्यक्त करते हुए किसी भी कटु शब्द का प्रयोग नहीं किया, बल्कि बड़े ही आदर के साथ लिखा है कि **"यथा हि असद्भूतमनुपदिष्टं च जानाति तथा पश्यति किमत्र भवतो हीयते"** अर्थात् केवली (सर्वज्ञ) जिस प्रकार असद्भूत और अनुपदिष्ट को जानते हैं, उसी प्रकार उनको देखते भी हैं, इसके मानने में आपकी क्या हानि होती है? वास्तविक बात तो प्रायः ज्यों की त्यों एक ही रहती है। अकलङ्कदेव के प्रधान टीकाकार आचार्य श्री अनन्तवीर्य जी ने **सिद्धिविनिश्चय** की टीका में **"असिद्धः सिद्धसेनस्य विरुद्धो देवनन्दिनः। द्वेधा समन्तभद्रस्य हेतुरेकान्तसाधने॥"** इस कारिका की व्याख्या करते हुए सिद्धसेन को महान् आदर-सूचक **भगवान्** शब्द के साथ उल्लेखित किया है और जब उनके किसी स्वयूथ्य ने (स्वसम्प्रदाय के विद्वान् ने) यह आपत्ति की कि "सिद्धसेन ने एकान्त के साधन में प्रयुक्त हेतु को कहीं भी असिद्ध नहीं बतलाया

---

७३. जैन साहित्य संशोधक/भाग १/अंक १/पृ.१०, ११।

है, अतः एकान्त के साधन में प्रयुक्त हेतु सिद्धसेन की दृष्टि में असिद्ध है, यह वचन सूक्त न होकर अयुक्त है," तब उन्होंने यह कहते हुए कि "क्या उसने कभी यह वाक्य नहीं सुना है" सन्मतिसूत्र की **'जे संतवायदोसे'** इत्यादि कारिका (३/५०) को उद्धृत किया है और उसके द्वारा एकान्तसाधन में प्रयुक्त हेतु को सिद्धसेन की दृष्टि में असिद्ध प्रतिपादन करना सन्निहित बतलाकर उसका समाधान किया है। यथा—

**"असिद्ध इत्यादि, स्वलक्षणैकान्तस्य साधने सिद्धावङ्गीक्रियमाणायां सर्वो हेतुः सिद्धसेनस्य भगवतोऽसिद्धः। कथमिति चेदुच्यते---। ततः सूक्तमेकान्तसाधने हेतुरसिद्धः सिद्धसेनस्येति। कश्चित्स्वयूथ्योऽत्राह—सिद्धेसेनेन क्वचित्तस्याऽसिद्धस्याऽवचनाद्युक्तमेतदिति। तेन कदाचिदेतत् श्रुतं—'जे संतवायदोसे सक्कोल्लूया भणंति संखाणं। संखा य असव्वाए तेसिं सव्वे वि ते सच्चा'॥"**

"इन्हीं सब बातों को लक्ष्य में रखकर प्रसिद्ध श्वेताम्बर विद्वान् स्वर्गीय श्रीमोहनलाल दुलीचन्द देसाई बी.ए., एल-एल.बी. एडवोकेट हाईकोर्ट, बम्बई ने अपने **'जैन-साहित्यनो संक्षिप्त इतिहास'** नामक गुजराती ग्रन्थ (पृ. ११६) में लिखा है कि **"सिद्धसेनसूरि प्रत्येनो आदर दिगम्बरो विद्वानोमां रहेलो देखाय छे"** अर्थात् (सन्मतिकार) सिद्धसेनाचार्य के प्रति आदर दिगम्बर विद्वानों में रहा दिखाई पड़ता है, श्वेताम्बरों में नहीं। साथ ही हरिवंशपुराण, राजवार्तिक, सिद्धिविनिश्चय-टीका, रत्नमाला, पार्श्वनाथ-चरित और एकान्तखण्डन जैसे दिगम्बरग्रन्थों तथा उनके रचयिता जिनसेन, अकलङ्क, अनन्तवीर्य, शिवकोटि, वादिराज और लक्ष्मीभद्र (धर) जैसे दिगम्बर विद्वानों का नामोल्लेख करते हुए यह भी बतलाया है कि "इन दिगम्बर विद्वानों ने सिद्धसेनसूरि-सम्बन्धी और सन्मतितर्क-सम्बन्धी उल्लेख भक्तिभाव से किये हैं, और उन उल्लेखों से यह जाना जाता है कि दिगम्बर ग्रन्थकारों में घना समय तक सिद्धसेन के (उक्त) ग्रन्थ का प्रचार था और वह प्रचार इतना अधिक था कि उस पर उन्होंने टीका भी रची है।" (पु.जै.वा.सू./प्रस्ता./पृ. १६६-१६७)।

"इस सारी परिस्थिति पर से यह साफ समझा जाता और अनुभव में आता है कि सन्मतिसूत्र के कर्ता सिद्धसेन एक महान् दिगम्बराचार्य थे, और इसलिये उन्हें श्वेताम्बर परम्परा का अथवा श्वेताम्बरत्व का समर्थक आचार्य बतलाना कोरी कल्पना के सिवाय और कुछ भी नहीं है। वे अपने प्रवचन-प्रभाव आदि के कारण श्वेताम्बरसम्प्रदाय में भी उसी प्रकार से अपनाये गये हैं, जिस प्रकार कि स्वामी समन्तभद्र, जिन्हें श्वेताम्बर पट्टावलियों में पट्टाचार्य तक का पद प्रदान किया गया है और जिन्हें पं० सुखलाल, पं० बेचरदास और मुनि जिनविजय आदि बड़े-बड़े श्वेताम्बर विद्वान् भी अब श्वेताम्बर न मानकर दिगम्बर मानने लगे हैं।" (पु.जै.वा.सू./प्रस्ता./पृ. १६७)।

Scanned with OKEN Scanner

९

## कुछ द्वात्रिंशिकाओं के कर्त्ता एक अन्य दिगम्बर सिद्धसेन और कुछ श्वेताम्बर सिद्धसेन

"कतिपय द्वात्रिंशिकाओं के कर्ता सिद्धसेन इन सन्मतिकार सिद्धसेन से भिन्न तथा पूर्ववर्ती दूसरे ही सिद्धसेन हैं, जैसा कि पहले व्यक्त किया जा चुका है, और सम्भवतः वे ही उज्जयिनी के महाकालमन्दिरवाली घटना के नायक जान पड़ते हैं। हो सकता है कि वे शुरू से श्वेताम्बरसम्प्रदाय में ही दीक्षित हुए हों, परन्तु श्वेताम्बर-आगमों को संस्कृत में कर देने का विचारमात्र प्रकट करने पर जब उन्हें बारह वर्ष के लिये संघबाह्य करने-जैसा कठोर दण्ड दिया गया हो, तब वे सविशेषरूप से दिगम्बर साधुओं के सम्पर्क में आए हों, उनके प्रभाव से प्रभावित तथा उनके संस्कारों एवं विचारों को ग्रहण करने में प्रवृत्त हुए हों, खासकर समन्तभद्रस्वामी के जीवनवृत्तान्तों और उनके साहित्य का उन पर सबसे अधिक प्रभाव पड़ा हो और इसीलिये वे उन्हीं-जैसे स्तुत्यादिक कार्यों के करने में दत्तचित्त हुए हों। उन्हीं के सम्पर्क एवं संस्कारों में रहते हुए ही सिद्धसेन से उज्जयिनी की वह महाकालमन्दिरवाली घटना बन पड़ी हो, जिससे उनका प्रभाव चारों ओर फैल गया हो और उन्हें भारी राजाश्रय प्राप्त हुआ हो। यह सब देखकर ही श्वेताम्बरसंघ को अपनी भूल मालूम पड़ी हो, उसने प्रायश्चित्त की शेष अवधि को रद्द कर दिया हो और सिद्धसेन को अपना ही साधु तथा प्रभावक आचार्य घोषित किया हो। अन्यथा, द्वात्रिंशिकाओं पर से सिद्धसेन गम्भीर विचारक एवं कठोर समालोचक होने के साथ-साथ जिस उदार, स्वतन्त्र और निर्भय-प्रकृति के समर्थ विद्वान् जान पड़ते हैं, उससे यह आशा नहीं की जा सकती कि उन्होंने ऐसे अनुचित एवं अविवेकपूर्ण दण्ड को यों ही चुपके-से गर्दन झुका कर मान लिया हो, उसका कोई प्रतिरोध न किया हो अथवा अपने लिये कोई दूसरा मार्ग न चुना हो। सम्भवतः अपने साथ किये गये ऐसे किसी दुर्व्यवहार के कारण ही उन्होंने पुराणपन्थियों अथवा पुरातनप्रेमी एकान्तियों की (द्वा. ६ में) कड़ी आलोचनाएँ की हैं।

"यह भी हो सकता है कि एक सम्प्रदाय ने दूसरे सम्प्रदाय की उज्जयिनीवाली घटना को अपने सिद्धसेन के लिये अपनाया हो अथवा यह घटना मूलतः काँची या काशी में घटित होनेवाली समन्तभद्र की घटना की ही एक प्रकार से कापी हो और इसके द्वारा सिद्धसेन को भी उस प्रकार का प्रभावक ख्यापित करना अभीष्ट रहा हो। कुछ भी हो, उक्त द्वात्रिंशिकाओं के कर्ता सिद्धसेन अपने उदार विचार एवं प्रभावादि के कारण दोनों सम्प्रदायों में समानरूप से माने जाते हैं, चाहे वे किसी भी सम्प्रदाय में पहले अथवा पीछे दीक्षित क्यों न हुए हों।" (पु.जै.वा.सू./प्रस्ता./पृ. १६७-१६८)।

Scanned with OKEN Scanner

१०

## न्यायावतार के कर्त्ता एक अन्य श्वेताम्बर सिद्धसेन

"परन्तु न्यायावतार के कर्ता सिद्धसेन की दिगम्बरसम्प्रदाय में वैसी कोई खास मान्यता मालूम नहीं होती और न उस ग्रन्थ पर दिगम्बरों की किसी खास टीका-टिप्पण का ही पता चलता है, इसी से वे प्रायः श्वेताम्बर जान पड़ते हैं। श्वेताम्बरों के अनेक टीका-टिप्पण भी न्यायावतार पर उपलब्ध होते हैं। उसके **'प्रमाणं स्वपराभासि'** इत्यादि प्रथम श्लोक को लेकर तो विक्रम की ११वीं शताब्दी के विद्वान् **जिनेश्वरसूरि** ने उस पर **प्रमालक्ष्म** नाम का एक सटीक वार्तिक ही रच डाला है, जिसके अन्त में उसके रचने में प्रवृत्त होने का कारण उन दुर्जनवाक्यों को बतलाया है, जिनमें यह कहा गया है कि **"इन श्वेताम्बरों के शब्दलक्षण और प्रमाणलक्षण-विषयक कोई ग्रन्थ अपने नहीं हैं, ये परलक्षणोपजीवी हैं, बौद्ध तथा दिगम्बरादि ग्रन्थों से अपना निर्वाह करनेवाले हैं, अतः ये आदि से नहीं, किसी निमित्त से नये ही पैदा हुए अर्वाचीन हैं।"** साथ ही यह भी बतलाया है कि "हरिभद्र, मल्लवादी और अभयदेवसूरि-जैसे महान् आचार्यों के द्वारा इन विषयों की उपेक्षा किये जाने पर भी हमने उक्त कारण से यह **प्रमालक्ष्म** नाम का ग्रन्थ वार्तिकरूप में अपने पूर्वाचार्य का गौरव प्रदर्शित करने के लिये (टीका—**"पूर्वाचार्यगौरव-दर्शनार्थं"**) रचा है और (हमारे भाई) **बुद्धिसागराचार्य** ने संस्कृत-प्राकृत शब्दों की सिद्धि के लिये पद्यों में व्याकरण ग्रन्थ की रचना की है।"[७४] (पु.जै.वा.सू. / प्रस्ता. / पृ. १६८)।

**"इस तरह सन्मतिसूत्र के कर्ता सिद्धसेन दिगम्बर और न्यायावतार के कर्ता सिद्धसेन श्वेताम्बर जाने जाते हैं। द्वात्रिंशिकाओं में से कुछ के कर्ता सिद्धसेन दिगम्बर और कुछ के कर्ता श्वेताम्बर जान पड़ते हैं** और वे उक्त दोनों सिद्धसेनों से भिन्न, पूर्ववर्ती तथा उत्तरवर्ती अथवा उनसे अभिन्न भी हो सकते हैं। ऐसा मालूम होता है कि उज्जयिनी की उस घटना के साथ जिन सिद्धसेन का सम्बन्ध बतलाया जाता है, उन्होंने सबसे पहले कुछ द्वात्रिंशिकाओं की रचना की है, उनके बाद दूसरे सिद्धसेनों ने भी कुछ द्वात्रिंशिकाएँ रची हैं और वे सब रचयिताओं के नाम-साम्य के कारण परस्पर में मिल-जुल गई हैं, अतः उपलब्ध द्वात्रिंशिकाओं में यह निश्चय करना कि कौन-सी द्वात्रिंशिका किस सिद्धसेन की कृति है, विशेष अनुसन्धान से सम्बन्ध रखता है। साधारणतौर पर उपयोग-द्वय के युगपद्वादादि की दृष्टि से, जिसे पीछे स्पष्ट किया जा चुका है, **प्रथमादि पाँच द्वात्रिंशिकाओं को दिगम्बर सिद्धसेन की, १९वीं तथा**

---

७४. देखिये, वार्तिक नं. ४०१ से ४०५ और उनकी टीका अथवा 'जैनहितैषी' भाग १३, अङ्क ९-१० में प्रकाशित मुनि जिनविजय जी का 'प्रमालक्षण' नामक लेख।

Scanned with OKEN Scanner

२१वीं द्वात्रिंशिकाओं को श्वेताम्बर सिद्धसेन की और शेष द्वात्रिंशिकाओं को दोनों में से किसी भी सम्प्रदाय के सिद्धसेन की अथवा दोनों ही सम्प्रदायों के सिद्धसेनों की अलग-अलग कृति कहा जा सकता है। यही इन विभिन्न सिद्धसेनों के सम्प्रदाय-विषयक विवेचन का सार है।" (पु.जै.वा.सू./प्रस्ता./ पृ. १६८)।

✧✧✧

Scanned with OKEN Scanner

## द्वितीय प्रकरण

# मुख्तार जी के निर्णयों का विरोध और उसकी आधारहीनता

'जैनधर्म का यापनीय सम्प्रदाय' ग्रन्थ के मान्य लेखक डॉ. सागरमल जी जैन ने पं० जुगलकिशोर जी मुख्तार के निर्णयों का विरोध किया है। विरोध में जो हेतु प्रस्तुत किये गये हैं, वे सब मिथ्या हैं। उनके मिथ्यात्व का प्रदर्शन एवं उनका निरसन क्रमशः श्वेताम्बरपक्ष और दिगम्बरपक्ष शीर्षकों से नीचे किया जा रहा है।

### श्वेताम्बरपक्ष

मुख्तार जी ने सिद्ध किया है कि कतिपय द्वात्रिंशिकाओं के कर्ता सिद्धसेन, न्यायावतार के कर्ता सिद्धसेन तथा सन्मतिसूत्र के कर्ता सिद्धसेन अलग-अलग व्यक्ति हैं और इनमें से प्रथम दो सिद्धसेन श्वेताम्बर हैं तथा सन्मतिसूत्रकार सिद्धसेन दिगम्बर। उपर्युक्त ग्रन्थलेखक ने इसे मुख्तार जी का दुराग्रहमात्र घोषित किया है। (जै.ध.या.स./पृ.२२८-२२९)।

### दिगम्बरपक्ष

दुराग्रह तो उसे कहते हैं, जब बिना किसी युक्ति और प्रमाण के अपनी मान्यता थोपी जाय, प्रतिपक्षी की युक्तियों और प्रमाणों की उपेक्षा कर अपने ही मत के सही होने की रट लगाये रखी जाय। मुख्तार जी ने ऐसा नहीं किया। उन्होंने सिद्धसेन के नाम से प्रसिद्ध उक्त ग्रन्थों में जो परस्पर सैद्धान्तिक विपरीतताएँ हैं, उन्हें सामने लाकर उनके कर्त्ताओं को भिन्न-भिन्न व्यक्ति सिद्ध किया है। इसे दुराग्रह कहेंगे, तो सयुक्तिक प्रतिपादन किसे कहेंगे? हाँ, उपर्युक्त श्वेताम्बरपक्षधर मान्य ग्रन्थ-लेखक अवश्य ही उन सैद्धान्तिक विपरीतताओं को देखकर भी नेत्रनिमीलित कर लेते हैं और केवल इस आधार पर उन्हें एक ही सिद्धसेन की कृति मानने के निर्णय पर कायम रहते हैं कि श्वेताम्बरपरम्परा में ऐसी ही मान्यता है और पं० सुखलाल जी संघवी ने प्रतिभा की समानता के आधार पर ऐसा ही माना है। सम्भवतः यह प्रवृत्ति दुराग्रह की परिभाषा में आती है।

### श्वेताम्बरपक्ष

दूसरा आक्षेप करते हुए उपर्युक्त ग्रन्थ लेखक कहते हैं—"आदरणीय मुख्तार जी ने एक यह विचित्र तर्क दिया है कि श्वेताम्बरप्रबन्धों में सिद्धसेन के सन्मतिसूत्र का उल्लेख नहीं है, इसलिए प्रबन्धों में उल्लेखित सिद्धसेन अन्य कोई सिद्धसेन हैं, वे सन्मतिसूत्र के कर्ता सिद्धसेन नहीं हैं। किन्तु मुख्तार जी ये कैसे भूल जाते हैं

Scanned with OKEN Scanner

कि प्रबन्धग्रन्थों के लिखे जाने के पाँच सौ वर्ष पूर्व हरिभद्र के **पंचवस्तु** तथा जिनभद्र की **निशीथचूर्णि** में **सन्मतिसूत्र** और उसके कर्त्ता के रूप में सिद्धसेन के उल्लेख उपस्थित हैं। जब प्रबन्धों से प्राचीन श्वेताम्बरग्रन्थों में सन्मतिसूत्र के कर्ता के रूप में सिद्धसेन का उल्लेख है, तो फिर यह कैसे कहा जा सकता है कि प्रबन्धों में जो सिद्धसेन का उल्लेख है, वह सन्मतिसूत्र के कर्त्ता सिद्धसेन का न होकर कुछ द्वात्रिंशिकाओं और न्यायावतार के कर्त्ता किसी अन्य सिद्धसेन का है?'' (जै.ध.या.स./ पृ. २२६-२२७)।

**दिगम्बरपक्ष**

प्रश्न यह है कि जब पूर्वकालीन श्वेताम्बरग्रन्थों में सिद्धसेन की कृति के रूप में सन्मतिसूत्र का उल्लेख है, तब उत्तरकालीन प्रबन्धग्रन्थों में क्यों नहीं है? उनमें तो अवश्य ही होना चाहिए था। जिन प्रबन्धग्रन्थों में सिद्धसेन का सम्पूर्ण जीवनचरित वर्णित है, जिनमें उनके द्वारा रचित साहित्य के अन्तर्गत द्वात्रिंशिकाओं और न्यायावतार का उल्लेख है, उनमें सन्मतिसूत्र जैसे अत्यन्त लोकप्रिय ग्रन्थ का उनकी कृति के रूप में उल्लेख नहीं है, यह इस बात का स्पष्ट प्रमाण है कि वह श्वेताम्बरसाहित्य में उनकी कृति के रूप में मान्य नहीं था। निशीथचूर्णिकार श्री जिनदास महत्तर (७वीं शती ई०) एवं आचार्य हरिभद्र सूरि (८वीं शती ई०) आदि ने सन्मतिसूत्र (६वीं शती ई०) को भ्रम से श्वेताम्बरीय ग्रन्थ घोषित कर दिया, किन्तु इससे अन्य आचार्य सहमत नहीं थे, क्योंकि उसमें प्रतिपादित केवली का दर्शन-ज्ञानोपयोग-अभेदवाद श्वेताम्बरागम-सम्मत नहीं है। इसी कारण जिनभद्रगणी, सिद्धसेनगणी आदि श्वेताम्बराचार्यों ने सन्मतिसूत्रकार के लिए आगमविरुद्धभाषी, पण्डितम्मन्य जैसे तिरस्कारपूर्ण शब्दों का प्रयोग किया है और प्रबन्धग्रन्थों में सिद्धसेन की कृतियों में 'सन्मतिसूत्र' का उल्लेख नहीं किया गया। इससे सिद्ध है कि सन्मतिसूत्र के कर्त्ता सिद्धसेन श्वेताम्बरपरम्परा के नहीं थे। दिगम्बरपरम्परा में जैसे पूर्वकालीन ग्रन्थों में उनका आदरपूर्वक उल्लेख है, उसी प्रकार उत्तरकालीन ग्रन्थों में भी है। यह साबित करता है कि हैं वे दिगम्बरपरम्परा के आचार्य थे। इस तरह मुख्तार जी के तर्क में विचित्रता की बात क्या है? वह तो एक युक्तिसम्मत अत्यन्त सीधा-सादा तर्क है।

हाँ, मुख्तार जी के आलोचक विद्वान् का यह तर्क अवश्य विचित्र लगता है कि श्वेताम्बर-प्रबन्धों में सिद्धसेन के सन्मतिसूत्र का उल्लेख इसलिए नहीं है कि उसमें ''श्वेताम्बर-आगम-मान्य क्रमवाद का खण्डन है, इसीलिए श्वेताम्बर आचार्यों ने जानबूझकर उस ग्रन्थ की उपेक्षा की है। मध्ययुगीन सम्प्रदायगत मान्यताओं से जुड़े हुए श्वेताम्बराचार्य यह नहीं चाहते थे कि उनके सन्मतिसूत्र का संघ में व्यापक अध्ययन हो। अतः जानबूझकर उसकी उपेक्षा की।'' (जै. ध. या. स./ पृ. २२८)।

Scanned with OKEN Scanner

यह तर्क विचित्र इसलिए है कि श्वेताम्बर-आगममान्य क्रमवाद का खण्डन पहली, दूसरी और पाँचवीं द्वात्रिंशिकाओं में भी है, क्योंकि उनमें यौगपद्यवाद का प्रतिपादन है। तथा उन्नीसवीं निश्चयद्वात्रिंशिका में भी यौगपद्यवाद स्वीकार किया गया है। इसके अतिरिक्त उसमें मतिज्ञान और श्रुतज्ञान में तथा अवधिज्ञान और मनःपर्ययज्ञान में भी परस्पर अभेद का प्रतिपादन मिलता है, जो दिगम्बर और श्वेताम्बर दोनों आगमों के विरुद्ध है। उसमें और भी अनेक प्रतिपादन श्वेताम्बर-मान्यताओं के विरुद्ध हैं। जब इन द्वात्रिंशिकाओं का उल्लेख प्रबन्धों में करने से मध्ययुगीन श्वेताम्बराचार्यों को कोई हानि दिखाई नहीं दी, तब सन्मतिसूत्र का उल्लेख करने से हानि दिखाई देती थी, यह तर्क गले नहीं उतरता। वे उपर्युक्त श्वेताम्बरमान्यता-विरोधी द्वात्रिंशिकाओं के व्यापक अध्ययन पर प्रतिबन्ध नहीं लगाना चाहते थे, केवल सन्मतिसूत्र पर लगाना चाहते थे, यह बात बुद्धिगम्य नहीं है। दूसरे, वे सन्मतिसूत्र के व्यापक अध्ययन पर रोक लगाना चाहते थे, सीमित अध्ययन पर नहीं, तथा ग्रन्थ तो उपलब्ध रहे, केवल उसे सिद्धसेनकृत ग्रन्थों की सूची में न रखा जाय, इतने मात्र से उसका व्यापक अध्ययन रुक जायेगा, ये तर्क अपने मध्ययुगीन श्वेताम्बराचार्यों की बुद्धि पर थोपना उनकी बुद्धि को बालबुद्धि से भी गया बीता सिद्ध करना है। यह बालबुद्धिप्रसूत तर्क सिद्धसेनकृत ग्रन्थों की सूची में सन्मतितर्क के उल्लेख के अभाव का औचित्य सिद्ध करने में असमर्थ है। अतः उसके अभाव के औचित्य को सिद्ध करनेवाला केवल एक ही तर्क शेष रहता है, वह यह कि सन्मतितर्क उन सिद्धसेन की कृति थी ही नहीं, जिनके जीवनचरित का वर्णन प्रबन्धों में किया गया है। वह दिगम्बर सिद्धसेन की कृति थी, जिनके द्वारा प्रतिपादित उपयोग-अभेदवाद का खण्डन जिनभद्रगणि-क्षमाश्रमण ने विशेषावश्यकभाष्य में किया है तथा दर्शनप्रभावक होने से जिसके अध्ययन का औचित्य दिगम्बर-अकलंकदेवकृत सिद्धिविनिश्चय के साथ श्वेताम्बर-निशीथचूर्णि में प्रतिपादित किया गया है। यथा—

**"दंसणगाही—दंसणणाणप्पभावगाणि सत्थाणि सिद्धिविणिच्छय-संमतिमादि गेण्हंतो असंथरमाणे जं अकप्पियं पडिसेवति जयणाते तत्थ सो सुद्धो अप्रायश्चित्ती भवतीत्यर्थः।"**[७५]

इस तरह चूँकि सन्मतिसूत्र का उल्लेख प्रबन्धों में वर्णित सिद्धसेन की कृतियों की सूची में नहीं है, अतः वह उनकी कृति नहीं है, अपितु दिगम्बरकृति है, मुख्तार

---

७५. निशीथचूर्णि / उद्देशक १ (पुरातन जैन वाक्य सूची / प्रस्तावना / पृ. ११९ पर पादटिप्पणी २ में उद्धृत)।

जी का यह निष्कर्ष युक्ति और प्रमाण से सिद्ध होने के कारण विचित्र नहीं है, अपितु बिलकुल बुद्धिगम्य और सीधासादा है।

### श्वेताम्बरपक्ष

मुख्तार जी के आलोचक विद्वान् का एक तर्क यह है कि "श्वेताम्बर आचार्यों ने यद्यपि सिद्धसेन के अभेदवाद का खण्डन किया है और उन्हें आगमों की अवमानना करने पर दण्डित किये जाने का उल्लेख भी किया है, किन्तु किसी ने भी उन्हें अपने से भिन्न परम्परा या सम्प्रदाय का नहीं बताया है। श्वेताम्बरपरम्परा के विद्वान् उन्हें मतभिन्नता के बावजूद भी अपनी ही परम्परा का आचार्य प्राचीन काल से मानते आ रहे हैं। श्वेताम्बरग्रन्थों में उन्हें दण्डित करने की जो कथा प्रचलित है, वह भी यही सिद्ध करती है कि वे सचेलधारा में ही दीक्षित हुए थे, क्योंकि किसी आचार्य को दण्ड देने का अधिकार अपनी ही परम्परा के व्यक्ति को होता है, अन्य परम्परा के व्यक्ति को नहीं। अतः सिद्धसेन दिगम्बरपरम्परा के आचार्य थे, यह किसी भी स्थिति में सिद्ध नहीं होता।" (जै.ध.या.स./पृ. २२७)।

### दिगम्बरपक्ष

दिगम्बराचार्य भी सन्मतिसूत्रकार सिद्धसेन को अपनी ही परम्परा का मानते आ रहे हैं। और प्रबन्धों के अनुसार जिन सिद्धसेन को आगमों का संस्कृत में रूपान्तरण करने का विचार प्रकट करने से बारह वर्ष के लिए श्वेताम्बरसंघ से बहिष्कृत कर दिया था, वे सन्मतिसूत्रकार सिद्धसेन नहीं थे, अपितु कतिपय द्वात्रिंशिकाओं के कर्त्ता सिद्धसेन थे, वे श्वेताम्बर ही थे।[७६] उन्हें ही निश्चयद्वात्रिंशिका में श्वेताम्बरागम-विरुद्ध प्रतिपादन करने से उनके ही सम्प्रदाय के किसी असहिष्णु विद्वान् ने **द्वेष्यश्वेतपट** (शत्रु माने जाने योग्य श्वेताम्बर) कहा था—"**द्वेष्यश्वेतपटसिद्धसेनाचार्यस्य कृतिः निश्चयद्वात्रिंशिकैकोनविंशतिः।**"[७७] यह पुष्पिकावाक्य इसी द्वात्रिंशिका के अन्त में अंकित है। इन प्रमाणों से सिद्ध है कि यही सिद्धसेन अर्थात् प्रबन्धों में वर्णित द्वात्रिंशिकाओं और न्यायावतार के कर्त्ता तथा **वृद्धवादी** के शिष्य सिद्धसेन ही द्वेष्य और दण्डनीय होते हुए भी श्वेतपट (श्वेताम्बर) थे, सन्मतिसूत्र के कर्ता सिद्धसेन नहीं। अतः यह सर्वथा मान्य है कि उपर्युक्त प्रबन्धग्रन्थवर्णित द्वात्रिंशिकाकार, वृद्धवादी के शिष्य, सिद्धसेन दिगम्बरपरम्परा के आचार्य किसी भी स्थिति में नहीं थे। इसी तरह यह भी सर्वथा सत्य है कि सन्मतिसूत्रकार सिद्धसेन किसी भी तरह श्वेताम्बरपरम्परा के आचार्य नहीं थे, अपितु दिगम्बरपरम्परा के ही आचार्य थे।

---

७६. देखिए, पुरातन-जैनवाक्य-सूची / प्रस्ता. / पृ. १३३, १६८-१६८।

७७. देखिए, पुरातन-जैनवाक्य-सूची / प्रस्ता. / पृ. १४१।

Scanned with OKEN Scanner

यहाँ एक बात उल्लेखनीय है कि द्वात्रिंशिकाकार सिद्धसेन के लिए **द्वेष्यश्वेतपट** विशेषण का प्रयोग किसी श्वेताम्बर विद्वान् ने ही किया है, क्योंकि वह **निश्चय-द्वात्रिंशिका** के अन्त में पुष्पिकावाक्य में प्रयुक्त है, तथापि माननीय डॉ० सागरमल जी ने लिखा है कि उक्त विशेषण का प्रयोग किसी दिगम्बराचार्य ने किया है। (जै. ध.या.स./पृ.२२८)। विचारणीय है कि कोई दिगम्बराचार्य केवल निश्चयद्वात्रिंशिकाकार के लिए ही 'द्वेष्यश्वेतपट' क्यों कहेगा? अगर साम्प्रदायिक द्वेषवश ऐसा कहना होता, तो दिगम्बराचार्य हर श्वेताम्बरग्रन्थ के अन्त में उसके कर्त्ता के लिए 'द्वेष्यश्वेतपट' विशेषण अंकित कर देते। किन्तु ऐसा अपने ग्रन्थों में तो सम्भव है, किन्तु दूसरे सम्प्रदाय के ग्रन्थों में ऐसा करना न तो दिगम्बरों के लिए संभव है, न श्वेताम्बरों के लिए। फिर भी डॉक्टर सा० ने ऐसा मान लिया है। **डॉक्टर सा० श्वेताम्बरों का दोष भी दिगम्बरों के सिर मढ़ना चाहते हैं। उनकी मनःस्थिति दिगम्बरों के प्रति बड़ी आक्रोशमय प्रतीत होती है।**

### श्वेताम्बरपक्ष

मुख्तार जी के आलोचक उक्त विद्वान् ने उन पर आरोप लगाया है कि उन्होंने सन्मतिसूत्रकार सिद्धसेन को दिगम्बरपरम्परा का आचार्य सिद्ध करने के लिए कोई भी आधारभूत प्रमाण प्रस्तुत नहीं किया है। (जै.ध.या.स./पृ.२२६)।

### दिगम्बरपक्ष

मुख्तार जी ने इसके लिए निम्नलिखित प्रमाण प्रस्तुत किये हैं—

१. सन्मतिसूत्रकार सिद्धसेन ने श्वेताम्बर-आगमों की उपयोगद्वयविषयक-क्रमवाद की मान्यता का सन्मतिसूत्र में जोरदार खण्डन किया है और अभेदवाद की सिद्धि की है, जो दिगम्बरमान्य यौगपद्यवाद के निकट है। (पु.जै.वा.सू./प्रस्ता./पृ. १३४-१३५)।

२. श्वेताम्बराचार्यों ने सन्मतिसूत्रकार सिद्धसेन की अभेदवादी मान्यता की कटु आलोचना की है और उनके प्रति अनादरभाव प्रकट किया है, जब कि दिगम्बरसाहित्य में सर्वत्र उनका सम्मानपूर्वक स्मरण किया गया है। (वही/पृ. १६६)।

३. दिगम्बरसम्प्रदाय में सन्मतिसूत्रकार सिद्धसेन को सेनगण (संघ) का आचार्य माना गया है और सेनगण की पट्टावली में उनका उल्लेख है। (वही/पृ. १५७)।

४. हरिवंशपुराणकार दिगम्बराचार्य जिनसेन ने पुराण के अन्त में अपनी गुर्वावली में सन्मतिसूत्रकार सिद्धसेन के नाम का उल्लेख किया है और आरंभ में उनकी सूक्तियों को भगवान् वृषभदेव की सूक्तियों के तुल्य बतलाया है। (वही/पृ. १५८)।

Scanned with OKEN Scanner

५. आदिपुराणकार जिनसेन ने सन्मतिसूत्रकार सिद्धसेन को अपने से उत्कृष्ट कवि निरूपित करते हुए मिथ्यावादियों के मतों का निरसन करनेवाला कहा है। (वही/पृ. १५८)।

६. वीरसेन स्वामी ने धवला में और उनके शिष्य जिनसेन ने जयधवला में सिद्धसेन के सन्मतिसूत्र को अपना मान्य ग्रन्थ कहा है। (वही/पृ. १५८)।

७. नियमसार की तात्पर्यवृत्ति में पद्मप्रभमलधारिदेव ने उक्त सिद्धसेन की वन्दना करते हुए उन्हें सिद्धान्त का ज्ञाता और प्रतिपादन-कौशल-रूप उच्चश्री का स्वामी सूचित किया है। इसके अतिरिक्त प्रतापकीर्ति ने आचार्यपूजा के प्रारंभ में दी हुई गुर्वावली में तथा मुनि कनकामर ने करकंडुचरिउ में सन्मतिसूत्रकार सिद्धसेन की अत्यन्त प्रशंसा की है। (वही/पृ. १५९)।

८. पद्मपुराणकार दिगम्बराचार्य रविषेण ने सन्मतिसूत्रकार के कर्त्ता सिद्धसेन को इन्द्रगुरु का शिष्य, अर्हन्मुनि का गुरु और रविषेण के गुरु लक्ष्मणसेन का दादागुरु अर्थात् अपना परदादागुरु कहा है। (वही/पृ. १६२)।

९. दिगम्बर सेनगण की पट्टावली में भी उक्त सिद्धसेन के विषय में उज्जयिनी के महाकाल-मन्दिर में लिंगस्फोटनादि-सम्बन्धी घटना का उल्लेख मिलता है। (वही/पृ. १६३)।

१०. इन प्रमाणों में एक मैं भी जोड़ देना चाहता हूँ, वह यह कि दिगम्बराचार्य **जटासिंहनन्दी** ने **वरांगचरित** में सन्मतिसूत्र की अनेक गाथाओं का संस्कृतरूपान्तरण किया है। (उदाहरणार्थ देखिए, जै.ध.या.स./पृ. १९०-१९१)।

सन्मतिसूत्रकार सिद्धसेन को दिगम्बराचार्य सिद्ध करनेवाले ये सभी आधारभूत प्रमाण मुख्तार जी ने प्रस्तुत किये हैं।

**श्वेताम्बरपक्ष**

उपर्युक्त ग्रन्थों में से हरिवंशपुराण, पद्मपुराण और वरांगचरित को मुख्तार जी के आलोचक विद्वान् ने यापनीयपरम्परा के खाते में डाल दिया है। अतः वे लिखते हैं कि "रविषेण यापनीय परम्परा के हैं, अतः उनके परदादागुरु के साथ में सिद्धसेन दिवाकर का उल्लेख मानें, तो भी वे यापनीय सिद्ध होंगे, दिगम्बर तो किसी भी स्थिति में सिद्ध नहीं होंगे। (जै.ध.या.स./पृ. २२६)। वे आगे लिखते हैं—"केवल यापनीयग्रन्थों और उनकी टीकाओं में सिद्धसेन का उल्लेख होने से इतना ही सिद्ध होता है कि सिद्धसेन यापनीयपरम्परा में मान्य रहे हैं।" (वही/पृ. २२७)।

Scanned with OKEN Scanner

**दिगम्बरपक्ष**

उपर्युक्त तीनों ग्रन्थ दिगम्बराचार्यों की कृतियाँ हैं, इसका सप्रमाण प्रतिपादन पद्मपुराण वरांगचरित एवं हरिवंशपुराण नामक उत्तरवर्ती १९वें, २०वें एवं २१वें अध्यायों में द्रष्टव्य है। अतः दिगम्बराचार्य रविषेण के परदादा गुरु के साथ में उल्लेख होने से आचार्य सिद्धसेन दिगम्बराचार्य ही सिद्ध होते हैं, यापनीयाचार्य नहीं।

**श्वेताम्बरपक्ष**

उपर्युक्त विद्वान् का कथन है कि पंचम द्वात्रिंशिका के ३६वें पद्य में यशोदा के साथ भगवान् महावीर के विवाह का उल्लेख है, जिससे सिद्ध होता है कि सिद्धसेन श्वेताम्बर थे। (जै.ध.या.स./पृ. २२८)।

**दिगम्बरपक्ष**

माननीय पं० जुगलकिशोर जी मुख्तार द्वारा सिद्ध किया जा चुका है कि पञ्चम द्वात्रिंशिका में युगपद्वाद का प्रतिपादन है, जो सन्मतिसूत्र के अभेदवाद के विरुद्ध है। अतः वह सन्मतिसूत्रकार दिगम्बर सिद्धसेन की कृति नहीं है। इसलिए उसमें महावीर के विवाह का उल्लेख होने से सन्मतिसूत्रकार सिद्धसेन श्वेताम्बर सिद्ध नहीं होते।

**श्वेताम्बरपक्ष**

उक्त विद्वान् ने एक हेतु यह भी प्रस्तुत किया है कि महाराष्ट्रीप्राकृत में केवल श्वेताम्बराचार्यों ने ग्रन्थ लिखे हैं, दिगम्बरों और यापनीयों ने नहीं। अतः महाराष्ट्रीप्राकृत में निबद्ध होना सन्मतिसूत्र के श्वेताम्बरग्रन्थ होने का सबसे बड़ा प्रमाण है। (जै.ध.या.स./पृ. २२९)।

**दिगम्बरपक्ष**

पूर्वप्रतिपादित प्रमाणों से सिद्ध है कि सन्मतिसूत्र दिगम्बरग्रन्थ है, अतः उसके महराष्ट्रीप्राकृत में लिखे जाने से यह स्वतः सिद्ध हो जाता है कि दिगम्बराचार्यों ने भी महाराष्ट्री-प्राकृत का प्रयोग ग्रन्थलेखन में किया है।

इस प्रकार सिद्ध है कि 'जैनधर्म का यापनीय सम्प्रदाय' ग्रन्थ के लेखक डॉ० सागरमल जी जैन ने पं० जुगलकिशोर जी मुख्तार के निर्णयों को असत्य सिद्ध करने के लिए जो हेतु प्रस्तुत किये हैं, वे सब मिथ्या हैं। अतः मुख्तार जी का यह निर्णय निर्बाध स्थापित होता है कि सन्मतिसूत्रकार सिद्धसेन दिगम्बर थे।

✧✧✧

Scanned with OKEN Scanner

## तृतीय प्रकरण

# सर्वार्थसिद्धि पर समन्तभद्र का प्रभाव

पं० जुगलकिशोर जी मुख्तार ने प्रस्तुत अध्याय के प्रथम प्रकरण में उद्धृत अपने लेख के शीर्षक क्र.७.२ वाले अनुभाग में आचार्य समन्तभद्र को पूज्यपादस्वामी से पूर्ववर्ती सिद्ध करते हुए लिखा है कि पूज्यपाद की सर्वार्थसिद्धि पर समन्तभद्र का स्पष्ट प्रभाव है। इसे उन्होंने **'सर्वार्थसिद्धि पर समन्तभद्र का प्रभाव'** नामक सम्पदकीय-लेख में स्पष्ट किया है। वह लेख 'अनेकान्त' (मासिक) के वर्ष ५, किरण १०-११, नवम्बर-दिगम्बर, १९४३ ई० के अंक (पृ. ३४५-३५२) में प्रकाशित हुआ था। 'जैनसाहित्य और इतिहास पर विशद प्रकाश' (प्रथम खण्ड/पृ. ३२३-३३९) में भी वह संगृहीत है। उसे यहाँ यथावत् उद्धृत किया जा रहा है।

## लेख

## सर्वार्थसिद्धि पर समन्तभद्र का प्रभाव

पं० जुगलकिशोर मुख्तार, सम्पादक-'अनेकान्त'

"**सर्वार्थसिद्धि** आचार्य उमास्वाति (गृध्रपिच्छाचार्य) के तत्त्वार्थसूत्र की प्रसिद्ध प्राचीन टीका है और देवनन्दी अपरनाम पूज्यपाद आचार्य की खास कृति है, जिनका समय आमतौर पर ईसा की पाँचवीं और वि० की छठी शताब्दी माना जाता है। दिगम्बर समाज की मान्यतानुसार आ० पूज्यपाद स्वामी समन्तभद्र के बाद हुए हैं, यह बात पट्टावलियों से ही नहीं, किन्तु अनेक शिलालेखों से भी जानी जाती है। श्रवणबेलगोल के शिलालेख नं० ४० (६४) में आचार्यों के वंशादिक का उल्लेख करते हुए समन्तभद्र के परिचय-पद्य (९) के बाद 'ततः' (तत्पश्चात्) शब्द लिखकर **'यो देवनन्दिप्रथमाभिधानः'** इत्यादि पद्यों (१०-११) के द्वारा पूज्यपाद का परिचय दिया है, और नं० १०८ (२५८) के शिलालेख में समन्तभद्र के अनन्तर पूज्यपाद के परिचय का जो प्रथम पद्य[७८] दिया है उसी में **ततः** शब्द का प्रयोग किया है, और इस तरह पर पूज्यपाद को समन्तभद्र के बाद का विद्वान् सूचित किया है। इसके सिवाय, स्वयं पूज्यपाद ने अपने **जैनेन्द्र व्याकरण** के निम्न सूत्र में समन्तभद्र के मत का उल्लेख किया है—"**चतुष्टयं समन्तभद्रस्य।**" (५/४/१६८)।

---

७८. श्रीपूज्यपादो धृतधर्मराज्यस्ततः सुराधीश्वरपूज्यपादः।
यदीयवैदुष्यगुणानिदानीं वदन्ति शास्त्राणि तदुद्धृतानि॥ १५॥

Scanned with OKEN Scanner

"इस सूत्र की मौजूदगी में यह नहीं कहा जा सकता कि समन्तभद्र पूज्यपाद के बाद हुए हैं, और न अनेक कारणों के वश[७९] इसे प्रक्षिप्त ही बतलाया जा सकता है।

"परन्तु यह सब कुछ होते हुए भी और इन उल्लेखों की असत्यता का कोई कारण न बतलाते हुए भी, किसी गलत धारणा के वश, हाल में एक नई विचारधारा उपस्थित की गई है, जिसके जनक हैं प्रमुख श्वेताम्बर विद्वान् श्रीमान् **पं० सुखलाल जी संघवी**, काशी और उसे गति प्रदान करनेवाले हैं **न्यायाचार्य पं० महेन्द्रकुमार जी शास्त्री**, काशी। पं० सुखलाल जी ने जो बात **अकलंकग्रन्थत्रय** के 'प्राक्कथन' में कही, उसे ही अपनाकर तथा पुष्ट बनाकर पं० महेन्द्रकुमार जी ने **न्यायकुमुदचन्द्र** द्वि० भाग की प्रस्तावना, **प्रमेयकमलमार्तण्ड** की प्रस्तावना और **जैनसिद्धान्तभास्कर** के '**मोक्ष-मार्गस्य नेतारम्**' शीर्षक लेख में प्रकाशित की है। चुनाँचे पं० सुखलाल जी, न्यायकुमुद-चन्द्र द्वितीय भाग के 'प्राक्कथन' में पं० महेन्द्रकुमार जी की कृति पर सन्तोष व्यक्त करते हुए और उसे अपने '**संक्षिप्त लेख का विशद और सबल भाष्य**' बतलाते हुए लिखते हैं—"पं० महेन्द्रकुमार जी ने मेरे संक्षिप्त लेख का विशद और सबल भाष्य करके प्रस्तुत भाग की प्रस्तावना ( पृ.२५ ) में यह **अभ्रान्तरूप** से स्थिर किया है कि स्वामी समन्तभद्र पूज्यपाद के उत्तरवर्ती हैं।"

"इस तरह पं० सुखलाल जी को पं० महेन्द्रकुमार जी का और पं० महेन्द्रकुमार जी को पं० सुखलाल जी का इस विषय में पारस्परिक समर्थन और अभिनन्दन प्राप्त है। दोनों ही विद्वान् इस विचारधारा को बहाने में एकमत हैं। अस्तु।

"इस नई विचारधारा का लक्ष्य है समन्तभद्र को पूज्यपाद के बाद का विद्वान् सिद्ध करना, और उसके प्रधान दो साधन हैं जो संक्षेप में निम्न प्रकार हैं—

"१. विद्यानन्द की आप्तपरीक्षा और अष्टसहस्री के उल्लेखों पर से यह **सर्वथा स्पष्ट** है कि विद्यानन्द ने '**मोक्षमार्गस्य नेतारम्**' इत्यादि मंगलस्तोत्र को पूज्यपादकृत सूचित किया है और समन्तभद्र को इसी आप्तस्तोत्र का 'मीमांसाकार' लिखा है, अत एव समन्तभद्र पूज्यपाद के **उत्तरवर्ती ही** हैं।

"२. यदि पूज्यपाद समन्तभद्र के उत्तरवर्ती होते, तो वे समन्तभद्र की असाधारण कृतियों का और खासकर **सप्तभंगी** का, "जो कि समन्तभद्र की जैनपरम्परा को उस

---

७९. देखिये, 'समन्तभद्र का समय और डॉ० के. बी. पाठक' नाम का मेरा वह लेख जो १६ जून–१ जुलाई सन् १९३४ के 'जैन जगत्' (पृ. ९ से २३) में प्रकाशित हुआ है अथवा "Samantabhadra's date and Dr. Pathak", Annals of B.O.R.I., vol. XV, Pts. I-II, pp. 67-88.

Scanned with OKEN Scanner

समय की नई देन रही,'' अपने 'सर्वार्थसिद्धि' आदि किसी ग्रन्थ में 'उपयोग' किये बिना न रहते। चूँकि पूज्यपाद के ग्रन्थों में ''समन्तभद्र की असाधारण कृतियों का किसी अंश में स्पर्श भी'' नहीं पाया जाता, अत एव समन्तभद्र पूज्यपाद के 'उत्तरवर्ती ही' हैं।

''इन दोनों साधनों में से प्रथम साधन को कुछ विशद तथा पल्लवित करते हुए पं० महेन्द्रकुमार जी ने 'जैनसिद्धान्तभास्कर' (भाग ९/कि०१) में अपना जो लेख प्रकाशित कराया था, उसमें विद्यानन्द की **आप्तपरीक्षा** के '**श्रीमत्तत्त्वार्थशास्त्राद्भुत-सलिलनिधेरिद्धरत्नोद्भवस्य प्रोत्थानारम्भकाले**' इत्यादि पद्य[८०] को देकर यह बतलाना चाहा था कि विद्यानन्द इसके द्वारा यह सूचित कर रहे हैं कि '**मोक्षमार्गस्त नेतारम्**' इत्यादि जिस मंगलस्तोत्र का इसमें संकेत है उसे **तत्त्वार्थशास्त्र** की उत्पत्ति का निमित्त बतलाते समय या उसकी **प्रोत्थान-भूमिका** बाँधते समय **पूज्यपाद** ने रचा है। और इसके लिये उन्हें '**प्रोत्थानारम्भकाले**' पद की **अर्थविषयक** बहुत कुछ खींचतान करना पड़ी थी, **शास्त्रावताररचितस्तुति** तथा **तत्त्वार्थशास्त्रादौ** जैसे स्पष्ट पदों के सीधे सच्चे अर्थ को भी उसी **प्रोत्थानारम्भकाले** पद के कल्पित अर्थ की ओर घसीटने की प्रेरणा के लिये प्रवृत्त होना पड़ा था और खींचतान की यह सब चेष्टा पं० सुखलाल जी के उस नोट के अनुरूप थी, जिसे उन्होंने **न्यायकुमुदचन्द्र द्वितीय भाग** के 'प्राक्कथन' (पृ.१७) में अपने बुद्धि-व्यापार के द्वारा स्थिर किया था। परन्तु 'प्रोत्थानारम्भकाले' पद के अर्थ की खींचतान उसी वक्त तक कुछ चल सकती थी, जब तक **विद्यानन्द** का कोई स्पष्ट उल्लेख इस विषय का न मिलता कि वे '**मोक्षमार्गस्य नेतारम्**' इत्यादि मंगलस्तोत्र को किसका बतला रहे हैं। चुनाँचे **न्यायाचार्य पं० दरबारीलाल जी कोठिया** और **पं० रामप्रसाद जी शास्त्री** आदि कुछ विद्वानों ने जब **पं० महेन्द्रकुमार जी** की भूलों तथा गलतियों को पकड़ते हुए अपने उत्तर लेखों द्वारा विद्यानन्द के कुछ अभ्रान्त उल्लेखों को सामने रक्खा और यह स्पष्ट करके बतला दिया कि **विद्यानन्द ने उक्त मंगलस्तोत्र को सूत्रकार उमास्वातिकृत लिखा है और उनके तत्त्वार्थसूत्रका मंगलाचरण बतलाया है,** तब उस खींचतान की गति रुकी तथा बन्द पड़ी। और इसलिये उक्त मंगलस्तोत्र को पूज्यपादकृत मानकर तथा समन्तभद्र को उसी का मीमांसाकार बतला कर निश्चितरूप में समन्तभद्र को पूज्यपाद के बाद का (उत्तरवर्ती) विद्वान् बतलानेरूप कल्पना की जो इमारत खड़ी की गई थी, वह एकदम धराशायी हो गई है। और

---

८०. श्रीमत्तत्वार्थ-शास्त्राद्भुत-सलिल-निधेरिद्ध-रत्नोद्भवस्य
प्रोत्थानारम्भकाले सकलमलभिदे शास्त्रकारैः कृतं यत्।
स्तोत्रं तीर्थोपमानं पृथितपृथुपथं स्वामिमीमांसितं तत्
विद्यानन्दैः स्वशक्त्या कथमपि कथितं सत्यवाक्यार्थसिद्ध्यै॥ १२३॥

Scanned with OKEN Scanner

इसी से पं० महेन्द्रकुमार जी को यह स्वीकार करने के लिये बाध्य होना पड़ा है कि आ० विद्यानन्द ने उक्त मंगलश्लोक को सूत्रकार उमास्वाति-कृत बतलाया है, जैसा कि **अनेकान्त** की पिछली किरण में '**मोक्षमार्गस्य नेतारम्**' शीर्षक उनके उत्तर लेख से प्रकट है। इस लेख में उन्होंने अब विद्यानन्द के कथन पर सन्देह व्यक्त किया है और यह सूचित किया है कि विद्यानन्द ने अपनी अष्टसहस्री में अकलंक की अष्टशती के '**देवागमेत्यादिमङ्गलपुरस्सरस्तव**' वाक्य का सीधा अर्थ न करके कुछ गलती खाई है और उसी का यह परिणाम है कि वे उक्त मंगलश्लोक को उमास्वाति की कृति बतला रहे हैं, अन्यथा उन्हें इसके लिये कोई पूर्वाचार्यपरम्परा प्राप्त नहीं थी। उनके इस लेख का उत्तर न्यायाचार्य पं० दरबारीलाल जी ने अपने द्वितीय लेख में दिया है, जो इसी किरण में अन्यत्र, '**तत्त्वार्थसूत्र का मंगलाचरण**' इस शीर्षक के साथ, प्रकाशित हो रहा है। जब पं० महेन्द्रकुमार जी विद्यानन्द के कथन पर सन्देह करने लगे हैं, तब वे यह भी असन्दिग्धरूप में नहीं कह सकेंगे कि समन्तभद्र ने उक्त मंगलस्तोत्र को लेकर ही 'आप्तमीमांसा' रची है, क्योंकि उसका पता भी विद्यानन्द के आप्तपरीक्षादि ग्रन्थों से चलता है। चुनाँचे वे अब इस पर भी सन्देह करने लगे है, जैसा कि उनके निम्न वाक्य से प्रकट है—

"यह एक स्वतन्त्र प्रश्न है कि स्वामी समन्तभद्र ने '**मोक्षमार्गस्य नेतारम्**' श्लोक पर आप्तमीमांसा बनाई है या नहीं।"

"ऐसी स्थिति में पं० सुखलाल जी द्वारा अपने प्राक्कथनों में प्रयुक्त निम्न वाक्यों का क्या मूल्य रहेगा, इसे विज्ञपाठक स्वयं समझ सकते हैं—

"पूज्यपाद के द्वारा स्तुत आप्त के समर्थन में ही उन्होंने (समन्तभद्र ने) आप्तमीमांसा लिखी है' यह बात विद्यानन्द ने आप्तपरीक्षा तथा अष्टसहस्री में सर्वथा स्पष्टरूप से लिखी है।" (अकलंकग्रन्थत्रय / प्राक्कथन / पृ.८)।

"मैंने अकलंकग्रन्थत्रय के ही प्राक्कथन में विद्यानन्द की आप्तपरीक्षा एवं अष्ट-सहस्री के स्पष्ट उल्लेखों के आधार पर यह निःशंक रूप से बतलाया है कि स्वामी समन्तभद्र पूज्यपाद के आप्तस्तोत्र के मीमांसाकार हैं, अत एव उनके उत्तरवर्ती ही हैं।"

"ठीक उसी तरह से समन्तभद्र ने भी पूज्यपाद के '**मोक्षमार्गस्य नेतारम्**' वाले मंगलपद्य को लेकर उसके ऊपर आप्तमीमांसा रची है।"

"पूज्यपाद का '**मोक्षमार्गस्य नेतारम्**' वाला सुप्रसन्न पद्य उन्हें (समन्तभद्र को) मिला, फिर तो उनकी प्रतिभा और जग उठी।" (न्यायकुमुदचन्द्र-द्वितीयभाग / प्राक्कथन/ पृ.१७-१९)।

Scanned with OKEN Scanner

"इन वाक्यों पर से मुझे यह जानकर बड़ा ही आश्चर्य होता है कि पं० सुखलाल जी जैसे प्रौढ़ विद्वान् भी कच्चे आधारों पर ऐसे सुनिश्चित वाक्यों का प्रयोग करते हुए देखे जाते हैं! सम्भवतः इसकी तह में कोई गलत धारणा ही काम करती हुई जान पड़ती है, अन्यथा जब **विद्यानन्द ने आप्तपरीक्षा और अष्टसहस्री में कहीं भी उक्त मंगलश्लोक के पूज्यपादकृत होने की बात लिखी नहीं,** तब उसे 'सर्वथा स्पष्ट रूप से लिखी' बतलाना कैसे बन सकता है? अस्तु।

"अब रही दूसरे साधन की बात, पं० महेन्द्रकुमार जी इस विषय में पं० सुखलाल जी के एक युक्तिवाक्य को उद्धृत करते और उसका अभिनन्दन करते हुए, अपने उसी जैन-सिद्धान्तभास्कर-वाले लेख के अन्त में, लिखते हैं—

"श्रीमान् पंडित सुखलाल जी सा० का इस विषय में यह तर्क "कि यदि समन्तभद्र पूर्ववर्ती होते, तो समन्तभद्र की आप्तमीमांसा जैसी अनूठी कृति का उल्लेख अपनी सर्वार्थसिद्धि आदि कृतियों में किए बिना न रहते" हृदय को लगता है।"

"इसमें पं० सुखलाल जी के जिस युक्ति-वाक्य का डबल इनवर्टेड कामाज के भीतर उल्लेख है, उसे पं० महेन्द्रकुमार जी ने अकलंकग्रंथत्रय और न्यायकुमुदचन्द्र-द्वितीय भाग के प्राक्कथनों में देखने की प्रेरणा की है। तदनुसार दोनों प्राक्कथनों को एक से अधिक बार देखा गया, परन्तु खेद है कि उनमें कहीं भी उक्त वाक्य उपलब्ध नहीं हुआ! न्यायकुमुदचन्द्र की प्रस्तावना में यह वाक्य कुछ दूसरे ही शब्दपरिवर्तनों के साथ दिया हुआ है।[८१] और वहाँ किसी 'प्राक्कथन' को देखने की प्रेरणा भी नहीं की गई। अच्छा होता यदि 'भास्कर' वाले लेख में भी किसी प्राक्कथन को देखने की प्रेरणा न की जाती अथवा पं० सुखलाल जी के तर्क को उन्हीं के शब्दों में रक्खा जाता और या उसे डबल इनवर्टेड कामाज के भीतर न दिया जाता। अस्तु, इस विषय में पं० सुखलाल जी ने जो तर्क अपने दोनों प्राक्कथनों में उपस्थित किया है, उसी के प्रधान अंश को ऊपर साधन नं० २ में संकलित किया गया है, और उसमें पंडित जी के खास शब्दों को इनवर्टेड कामाज के भीतर दे दिया है। इससे पंडित जी के तर्क की स्पिरिट अथवा रूपरेखा को भले प्रकार समझा जा सकता है। पंडित जी ने अपने पहले प्राक्कथन में उपस्थित तर्क की बावत दूसरे प्राक्कथन में यह स्वयं स्वीकार किया है कि—"मेरी वह (सप्तभंगी-वाली) दलील विद्यानन्द के स्पष्ट उल्लेख के आधार पर किए गए निर्णय की पोषक है। और उसे मैंने वहाँ स्वतन्त्र प्रमाण के रूप से पेश नहीं किया है।" परन्तु उक्त मंगलश्लोक को 'पूज्यपादकृत'

---

८१. यथा—"यदि समन्तभद्र पूज्यपाद के प्राक्कालीन होते, तो वे अपने इस युगप्रधान आचार्य की आप्तमीमांसा जैसी अनूठी कृति का उल्लेख किये बिना नहीं रहते।"

Scanned with OKEN Scanner

बतलानेवाला जब विद्यानन्द का कोई स्पष्ट उल्लेख है ही नहीं और उसकी कल्पना के आधार पर जो निर्णय किया गया था, वह गिर गया है, तब पोषक के रूप में उपस्थित की गई दलील भी व्यर्थ पड़ जाती है, क्योंकि जब वह दीवार ही नहीं रही, जिसे लेप लगाकर पुष्ट किया जाय, तब लेप व्यर्थ ठहरता है, उसका कुछ अर्थ नहीं रहता। और इसलिए पंडित जी की वह दलील विचार के योग्य नहीं रहती।

"यद्यपि पं० महेद्रकुमार जी के शब्दों में, "ऐसे नकारात्मक प्रमाणों से किसी आचार्य के समय का स्वतन्त्रभाव से साधन-बाधन नहीं होता," फिर भी विचार की एक कोटि उपस्थित हो जाती है। सम्भव है कल को पं० सुखलाल जी अपनी दलील को स्वतन्त्र प्रमाण के रूप में भी उपस्थित करने लगें, जिसका उपक्रम उन्होंने "समन्तभद्र की जैनपरम्परा को उस समय की नई देन" जैसे शब्दों को बाद में जोड़कर किया है और साथ ही 'समन्तभद्र की असाधारण कृतियों का किसी अंश में स्पर्श भी न करने' तक की बात भी वे लिख गये हैं,[८२] अतः उसपर, द्वितीय साधन पर, विचार कर लेना ही आवश्यक जान पड़ता है। और उसी का इस लेख में आगे प्रयत्न किया जाता है।

"सबसे पहले मैं यह बतला देना चाहता हूँ कि यद्यपि किसी आचार्य के लिये यह आवश्यक नहीं है कि वह अपने पूर्ववर्ती आचार्यों के सभी विषयों को अपने ग्रन्थ में उल्लेखित अथवा चर्चित करे, ऐसा करना या न करना ग्रंथकार की रुचिविशेष पर अवलम्बित है। चुनाँचे ऐसे बहुत से प्रमाण उपस्थित किये जा सकते हैं, जिनमें पिछले आचार्यों ने पूर्ववर्ती आचार्यों की कितनी ही बातों को अपने ग्रन्थों में छुआ तक भी नहीं, इतने पर भी पूज्यपाद के सब ग्रन्थ उपलब्ध नहीं हैं। उनके **सारसंग्रह** नाम के एक खास ग्रन्थ का **धवला** में नयविषयक उल्लेख[८३] मिलता है और उस पर से वह उनका महत्त्व का स्वतन्त्र ग्रन्थ जान पड़ता है। बहुत सम्भव है कि उसमें उन्होंने **सप्तभंगी** की भी विशद चर्चा की हो । उस ग्रन्थ की अनुपलब्धि की हालत में यह नहीं कहा जा सकता कि पूज्पाद ने 'सप्तभंगी' का विशद कथन नहीं किया अथवा उसे छुआ तक नहीं।

"इसके सिवाय, 'सप्तभंगी' एकमात्र समन्तभद्र की ईजाद अथवा उन्हीं के द्वारा आविष्कृत नहीं है, बल्कि उसका विधान पहले से चला आता है और वह श्री कुन्दकुन्दाचार्य के ग्रन्थों में भी स्पष्टरूप से पाया जाता है, जैसा कि निम्न दो गाथाओं से प्रकट है—

---

८२. देखिये, न्यायकुमुदचन्द्र / द्वितीय भाग का 'प्राक्कथन' / पृ. १८।

८३. "तथा सारसंग्रहेऽप्युक्तं पूज्यपादैः—'अनन्तपर्यायात्मकस्य वस्तुनोऽन्यतमपर्यायाधिगमे कर्तव्ये जात्यहेत्वपेक्षो निरवद्यप्रयोगो नय' इति।" धवला / षट्खण्डागम / पु.९ / ४,१,४५ / पृ.१६७।

अत्थि त्ति य णत्थि त्ति य हवदि अवत्तव्वमिदि पुणो दव्वं।
पज्जायेण दु केण वि तदुभयमादिट्ठमण्णं वा॥ २/२३॥
प्रवचनसार

सिय अत्थि णत्थि उहयं अव्वत्तव्वं पुणो य तत्तिदयं।
दव्वं खु सत्तभंगं आदेसवसेण संभवदि॥ १४॥
पंचास्तिकाय

"आचार्य कुन्दकुन्द पूज्यपाद से बहुत पहले हो गये हैं। पूज्यपाद ने उनके मोक्षप्राभृतादि ग्रन्थों का अपने समाधितंत्र में बहुत कुछ अनुसरण किया है। कितनी ही गाथाओं को तो अनुवादितरूप में ज्यों का त्यों रख दिया है[८४] और कितनी ही गाथाओं को अपनी सर्वार्थसिद्धि में **'उक्तं च'** आदि रूप से उद्धृत किया है, जिसका एक नमूना ५ वें अध्याय के १६ वें सूत्र की टीका में उद्धृत पंचास्तिकाय की निम्न गाथा है—

अण्णोण्णं पविसंता दिंता ओगासमण्णमण्णस्स।
मेलंता वि य णिच्चं सगं सभावं ण विजहंति॥ ७॥

"ऐसी हालत में पूज्यपाद के द्वारा **सप्तभंगी** का स्पष्ट शब्दों में उल्लेख न होने पर भी जैसे यह नहीं कहा जा सकता कि आ० कुन्दकुन्द पूज्यपाद के बाद हुए हैं, वैसे यह भी नहीं कहा जा सकता कि समन्तभद्राचार्य पूज्यपाद के बाद हुए हैं, उत्तरवर्ती हैं। और न यही कहा जा सकता है कि **सप्तभंगी** एकमात्र समन्तभद्र की कृति है, उन्हीं की जैनपरम्परा को 'नई देन' है। ऐसा कहने पर आचार्य कुन्दकुन्द को समन्तभद्र के भी बाद का विद्वान् कहना होगा, और यह किसी तरह भी सिद्ध नहीं किया जा सकता, मर्करा का ताम्रपत्र और अनेक शिलालेख तथा ग्रन्थों के उल्लेख इसमें प्रबल बाधक हैं। अतः पं० सुखलाल जी की सप्तभंगीवाली दलील ठीक नहीं है, उससे उनके अभिमत की सिद्धि नहीं हो सकती।

"अब मैं यह बतला देना चाहता हूँ कि पं० सुखलाल जी ने अपने साधन (दलील) के अंगरूप में जो यह प्रतिपादन किया है कि 'पूज्यपाद ने समन्तभद्र की असाधारण कृतियों का किसी अंश में स्पर्श भी नहीं किया' वह अभ्रान्त न होकर वस्तुस्थिति के विरुद्ध है, क्योंकि समन्तभद्र की उपलब्ध पाँच असाधारण कृतियों में से आप्तमीमांसा, युक्त्यनुशासन, स्वयंभूस्तोत्र और रत्नकरण्डश्रावकाचार नाम की चार

---

८४. देखिये, वीर सेवा मन्दिर से प्रकाशित 'समाधितंत्र' की प्रस्तावना / पृ. ११, १२।

Scanned with OKEN Scanner

कृतियों का स्पष्ट प्रभाव पूज्यपाद की 'सर्वार्थसिद्धि' पर पाया जाता है, जैसा कि अन्तः-परीक्षण द्वारा स्थिर की गई नीचे की कुछ तुलना पर से प्रकट है। इस तुलना में रक्खे हुए वाक्यों पर से विज्ञपाठक सहज ही में यह जान सकेंगे कि आ० पूज्यपाद स्वामी ने समन्तभद्र के प्रतिपादित अर्थ को कहीं शब्दानुसरण के, कहीं पदानुसरण के, कहीं वाक्यानुसरण के, कहीं अर्थानुसरण के, कहीं भावानुसरण के, कहीं उदाहरण के, कहीं पर्यायशब्दप्रयोग के, कहीं 'आदि' जैसे संग्राहकपद-प्रयोग के और कहीं व्याख्यान-विवेचनादि के रूप में पूर्णतः अथवा अंशतः अपनाया है, ग्रहण किया है। तुलना में स्वामी समन्तभद्र के वाक्यों को ऊपर और श्री पूज्यपाद के वाक्यों को नीचे भिन्न टाइपों में रख दिया गया है, और साथ में यथावश्यक अपनी कुछ व्याख्या भी दे दी गई है, जिससे साधारण पाठक भी इस विषय को ठीक तौर पर अवगत कर सकें—

१

आप्तमीमांसा — **नित्यं तत्प्रत्यभिज्ञानान्नाकस्मात्तदविच्छिदा।**
**क्षणिकं कालभेदात्ते बुद्ध्यसंचरदोषतः॥ ५६॥**

स्वयंभूस्तोत्र — **नित्यं तदेवेदमिति प्रतीतेर्न नित्यमन्यत्प्रतिपत्तिसिद्धेः॥ ४३॥**

सर्वार्थसिद्धि — **तदेवेदमिति स्मरणं प्रत्यभिज्ञानम्। तदकस्मान्न भवतीति योऽस्य हेतुः स तद्भावः।---येनात्मना प्राग्दृष्टं वस्तु तेनैवात्मना पुनरपि भावात्तदेवेदमिति प्रत्यभिज्ञायते।---ततस्तद्भावेनाऽव्ययं तद्भावाव्ययं नित्यमिति निश्चीयते। तत्तु कथंचिद् वेदितव्यम्।** (५/३१)।

"यहाँ पूज्यपाद ने समन्तभद्र के **तेदेवेदमिति** इस प्रत्यभिज्ञानलक्षण को ज्यों का त्यों अपनाकर इसकी व्याख्या की है, **नाऽकस्मात्** शब्दों को **अकस्मान्न भवति** रूप में रक्खा है, **तदविच्छिदा** के लिए सूत्रानुसार **तद्भावेनाऽव्ययं** शब्दों का प्रयोग किया है और **प्रत्यभिज्ञान** शब्द को ज्यों का त्यों रहने दिया है। साथ ही **न नित्यमन्यत्प्रतिपत्ति-सिद्धेः, क्षणिकं कालभेदात्** इन वाक्यों के भाव को **तत्तु कथंचिद् वेदितव्यं** इन शब्दों के द्वारा संगृहीत और सूचित किया है।

२

आप्तमीमांसा — **नित्यत्वैकान्तपक्षेऽपि विक्रिया नोपपद्यते॥ ३७॥**

युक्त्यनुशा. — **भावेषु नित्येषु विकारहानेर्न कारकव्यापृतकार्ययुक्तिः।**
**न बन्धभोगौ न च तद्विमोक्षः समन्तदोषं मतमन्यदीयम्॥ ८॥**

Scanned with OKEN Scanner

स्वयम्भूस्तोत्र — **न सर्वथा नित्यमुदेत्यपैति न च क्रियाकारकमत्र युक्तम्॥ २४॥**

सर्वार्थसिद्धि — **सर्वथा नित्यत्वे अन्यथाभावाभावात् संसारतन्निवृत्ति-कारण-प्रक्रिया-विरोधः स्यात्।** (५/३१/५८६/पृ. २३१)।

"यहाँ पूज्यपाद ने **नित्यत्वैकान्तपक्षे** पद के लिये समन्तभद्र के ही अभिमतानुसार **सर्वथा नित्यत्वे** इस समानार्थक पद का प्रयोग किया है, **विक्रिया नोपपद्यते** और **विकार-हानेः** के आशय को **अन्यथाभावाभावात्** पद के द्वारा व्यक्त किया है और शेष का समावेश **संसार-तन्निवृत्तिकारणप्रक्रियाविरोधः स्यात्** इन शब्दों में किया है।

३

स्वयंभूस्तोत्र — **विवक्षितो मुख्य इतीष्यतेऽन्यो गुणोऽविवक्षो न निरात्मकस्ते॥ ५३॥**

आप्तमीमांसा — **विवक्षा चाऽविवक्षा च विशेष्येऽनन्तधर्मिणि।**
**सतो विशेषणस्याऽत्र नाऽसतस्तैस्तदर्थिभिः॥ ३५॥**

सर्वार्थसिद्धि — **अनेकान्तात्मकस्य वस्तुनः प्रयोजनवशाद्यस्य कस्यचिद्धर्मस्य विवक्षया प्रापितं प्राधान्यमर्पितमुपनीतमिति यावत्। तद्विपरीतमनर्पितम् प्रयोजनाभावात्। सतोऽप्यविवक्षा भवतीत्युपसर्जनीभूत मनर्पित-मिच्युते।** (५/३२)।

"यहाँ **अर्पित** और **अनर्पित** शब्दों की व्याख्या करते हुए समन्तभद्र की 'मुख्य' और 'गुण (गौण)' शब्दों की व्याख्या को अर्थतः अपनाया गया है। **मुख्य** के लिये **प्राधान्य, गुण** के लिये **उपसर्जनीभूत, विवक्षित** के लिये **विवक्षया प्रापित** और **अन्यो गुणः** के लिये **तद्विपरीतमनर्पितम्** जैसे शब्दों का प्रयोग किया गया है। साथ ही, **'अनेकान्तात्मकस्य वस्तुनः प्रयोजनवशाद्यस्य कस्यचिद्धर्मस्य'** ये शब्द **विवक्षित** के स्पष्टीकरण को लिये हुए हैं—आप्तमीमांसा की उक्त कारिका में जिस **अनन्तधर्मिविशेष्य** का उल्लेख है और युक्त्यनुशासन की ४६ वीं कारिका में जिसे **तत्त्वं त्वनेकान्तमशेष-रूपम्** शब्दों से उल्लेखित किया है, उसी को पूज्यपाद ने **अनेकान्तात्मकवस्तु** के रूप में यहाँ ग्रहण किया है और उनका **धर्मस्य** पद भी समन्तभद्र के **विशेषणस्य** पद का स्थानापन्न है। इसके सिवाय, दूसरी महत्त्व की बात यह है कि आप्तमीमांसा की उक्त कारिका में जो यह नियम दिया गया है कि विवक्षा और अविवक्षा दोनों ही सत् विशेषण की होती हैं—असत् की नहीं, और जिसको स्वयम्भूस्तोत्र के **अविवक्षो न निरात्मकः** शब्दों के द्वारा भी सूचित किया गया है, उसी को पूज्यपाद ने **सतोऽप्य-**

Scanned with OKEN Scanner

लेख

# रत्नकरण्ड के कर्तृत्व-विषय में मेरा विचार और निर्णय

लेखक : पं० जुगलकिशोर मुख्तार

## प्रो० हीरालाल जी जैन का नया मत—

### 'र. क.' का 'क्षुत्पिपासा'-पद्यगत 'दोष' शब्द आ. मी.-कार के मतानुरूप नहीं

"रत्नकरण्ड श्रावकाचार के कर्तृत्व-विषय की वर्तमान चर्चा को उठे हुए चार वर्ष हो चुके। प्रोफेसर हीरालाल जी, एम० ए० ने '**जैन इतिहास का एक विलुप्त अध्याय**' नामक निबन्ध में इसे उठाया था, जो जनवरी, सन् १९४४ में होनेवाले **अखिल भारतवर्षीय प्राच्य सम्मेलन** के १२वें अधिवेशन पर बनारस में पढ़ा गया था। उस निबन्ध में प्रो० सा० ने अनेक प्रस्तुत प्रमाणों से पुष्ट होती हुई प्रचलित मान्यता के विरुद्ध अपने नये मत की घोषणा करते हुए यह बतलाया था कि 'रत्नकरण्ड उन्हीं ग्रन्थकार (स्वामी समन्तभद्र) की रचना कदापि नहीं हो सकती, जिन्होंने आप्तमीमांसा लिखी थी, क्योंकि उसके '**क्षुत्पिपासा**' नामक पद्य में दोष का जो स्वरूप समझाया गया है, वह आप्तमीमांसाकार के अभिप्रायानुसार हो ही नहीं सकता।' साथ ही यह भी सुझाया था कि इस ग्रन्थ का कर्त्ता रत्नमाला के कर्त्ता शिवकोटि का गुरु भी हो सकता है। इसी घोषणा के प्रतिवादरूप में न्यायाचार्य पं० दरबारीलाल जी कोठिया ने जुलाई सन् १९४४ में '**क्या रत्नकरण्डश्रावकाचार स्वामी समन्तभद्र की कृति नहीं है?**' नामक एक लेख लिखकर अनेकान्त में इस चर्चा का प्रारम्भ किया था और तब से यह चर्चा दोनों विद्वानों के उत्तर-प्रत्युत्तररूप में बराबर चली आ रही है। कोठिया जी ने अपनी लेखमाला का उपसंहार अनेकान्त की ८वें वर्ष की किरण १०-११ में किया है और प्रोफेसर साहब अपनी लेखमाला का उपसंहार ९वें वर्ष की पहली किरण में प्रकाशित '**रत्नकरण्ड और आप्तमीमांसा का भिन्नकर्तृत्व**' लेख में कर रहे हैं। दोनों ही पक्ष के लेखों में यद्यपि कहीं-कहीं कुछ पिष्टपेषण तथा खींचतान से भी काम लिया गया है और एक-दूसरे के प्रति आक्षेपपरक भाषा का भी प्रयोग हुआ है, जिससे कुछ कटुता को अवसर मिला। यह सब यदि न हो पाता तो ज्यादह अच्छा रहता। फिर भी इसमें संदेह नहीं कि दोनों विद्वानों ने प्रकृत विषय को सुलझाने में काफी दिलचस्पी से काम लिया है और उनके अन्वेषणात्मक परिश्रम एवं विवेचनात्मक प्रयत्न के फलस्वरूप कितनी ही नई बातें पाठकों के सामने आई हैं। अच्छ होता यदि प्रोफेसर साहब न्यायाचार्य जी के पिछले लेख की नवोद्भावित-युक्तियों का उत्तर देते हुए अपनी लेखमाला का उपसंहार करते, जिससे पाठकों को यह जानने का अवसर

मिलता कि प्रोफेसर साहब उन विशेष युक्तियों के सम्बन्ध में भी क्या कुछ कहना चाहते हैं। हो सकता है कि प्रो० सा० के सामने उन युक्तियों के सम्बन्ध में अपनी पिछली बातों के पिष्टपेषण के सिवाय अन्य कुछ विशेष एवं समुचित कहने के लिए अवशिष्ट न हो और इसलिए उन्होंने उनके उत्तर में न पड़कर अपनी उन चार आपत्तियों को ही स्थिर घोषित करना उचित समझा हो, जिन्हें उन्होंने अपने पिछले लेख (अनेकान्त वर्ष ८/ किरण ३) के अन्त में अपनी युक्तियों के उपसंहाररूप में प्रकट किया था। और संभवत इसी बात को दृष्टि में रखते हुए उन्होंने अपने वर्तमान लेख में निम्न वाक्यों का प्रयोग किया हो—

''इस विषय पर मेरे '**जैन इतिहास का एक विलुप्त अध्याय**' शीर्षक निबन्ध से लगाकर अभी तक मेरे और पं० दरबारीलाल जी कोठिया के छह लेख प्रकाशित हो चुके हैं, जिनमें उपलब्ध साधक-बाधक प्रमाणों का विवेचन किया जा चुका है। अब कोई नई बात सन्मुख आने की अपेक्षा पिष्टपेषण ही अधिक होना प्रारम्भ हो गया है, मौलिकता केवल कटु शब्दों के प्रयोग में शेष रह गई है।'' (प्रो० हीरालाल जी जैन के वाक्य)।

''(आपत्तियों के पुनरुल्लेखानन्तर) ''इस प्रकार **रत्नकरण्डश्रावकाचार** और **आप्तमीमांसा** के एककर्तृत्व के विरुद्ध पूर्वोक्त चारों आपत्तियाँ ज्यों की त्यों आज भी खड़ी हैं, और जो कुछ ऊहापोह अब तक हुआ है, उससे वे और भी प्रबल व अकाट्य सिद्ध होती हैं।'' (प्रो० हीरालाल जी जैन के वाक्य)।

''कुछ भी हो और दूसरे कुछ ही समझते रहें, परन्तु इतना स्पष्ट है कि प्रो० साहब अपनी उक्त चार आपत्तियों में से किसी का भी अब तक समाधान अथवा समुचित प्रतिवाद हुआ नहीं मानते, बल्कि वर्तमान ऊहापोह के फलस्वरूप उन्हें वे और भी प्रबल एवं अकाट्य समझने लगे हैं। अस्तु। (जै.सा.इ.वि.प्र./ खं.१/ पृ.४३१-४३२)।

''अपने वर्तमान लेख में प्रो० साहब ने मेरे दो पत्रों और मुझे भेजे हुए अपने एक पत्र को उद्धृत किया है। इन पत्रों को प्रकाशित देख कर मुझे बड़ी प्रसन्नता हुई। उनमें से किसी के भी प्रकाशन से मेरे क्रुद्ध होने जैसी तो कोई बात ही नहीं हो सकती थी, जिसकी प्रोफेसर साहब ने अपने लेख में कल्पना की है, क्योंकि उनमें प्राइवेट जैसी कोई बात नहीं है, मैं तो स्वयं ही उन्हें **समीचीन धर्मशास्त्र** की अपनी प्रस्तावना में प्रकाशित करना चाहता था। चुनाँचे लेख के साथ भेजे हुए पत्र के उत्तर में भी मैंने प्रो० साहब को इस बात की सूचना कर दी थी। मेरे प्रथम पत्र को, जो कि रत्नकरण्ड के '**क्षुत्पिपासा**' नामक छठे पद्य के सम्बन्ध में उसके

Scanned with OKEN Scanner

ग्रंथ का मौलिक अंग होने-न-होने विषयक गम्भीर प्रश्न को लिये हुए है, उद्धृत करते हुए प्रोफेसर साहब ने उसे अपनी 'प्रथम आपत्ति के परिहार का एक विशेष प्रयत्न' बतलाया है, उसमें जो प्रश्न उठाया है उसे 'बहुत ही महत्त्वपूर्ण' तथा रत्नकरण्ड के कर्तृत्वविषय से बहुत घनिष्ठ सम्बन्ध रखनेवाला घोषित किया है और तीनों ही पत्रों को अपने लेख में प्रस्तुत करना वर्तमान विषय के निर्णयार्थ अत्यन्त आवश्यक सूचित किया है। साथ ही मुझसे यह जानना चाहा है कि मैंने अपने प्रथम पत्र के उत्तर में प्राप्त विद्वानों के पत्रों आदि के आधार पर उक्त पद्य के विषय में मूल का अंग होने-न-होने की बावत और समूचे ग्रन्थ (रत्नकरण्ड) के कर्तृत्व-विषय में क्या कुछ निर्णय किया है। इसी जिज्ञासा को, जिसका प्रो० सा० के शब्दों में प्रकृत-विषय से रुचि रखनेवाले दूसरे हृदयों में भी उत्पन्न होना स्वाभाविक है, प्रधानत: लेकर ही मैं इस लेख के लिखने में प्रवृत्त हो रहा हूँ।" (जै.सा.इ.वि.प्र./खं.१/पृ.४३३)।

"सबसे पहले मैं अपने पाठकों को यह बतला देना चाहता हूँ कि प्रस्तुत चर्चा के वादी-प्रतिवादी रूप में स्थित दोनों विद्वानों के लेखों का निमित्त पाकर मेरी प्रवृत्ति रत्नकरण्ड के उक्त छठे पद्य पर सविशेषणरूप से विचार करने एवं उसकी स्थिति को जाँचने की ओर हुई और उसके फलस्वरूप ही मुझे वह दृष्टि प्राप्त हुई, जिसे मैंने अपने उस पत्र में व्यक्त किया है, जो कुछ विद्वानों को उनका विचार मालूम करने के लिये भेजा गया था और जिसे प्रोफेसर साहब ने विशेष महत्त्वपूर्ण एवं निर्णयार्थ आवश्यक समझकर अपने वर्तमान लेख में उद्धृत किया है। विद्वानों को उक्त पत्र का भेजा जाना प्रोफेसर साहब की प्रथम आपत्ति के परिहार का कोई खास प्रयत्न नहीं था, जैसा कि प्रो० साहब ने समझा है, बल्कि उसका प्रधान लक्ष्य अपने लिये इस बात का निर्णय करना था कि **समीचीन धर्मशास्त्र** में, जो कि प्रकाशन के लिये प्रस्तुत है, उसके प्रति किस प्रकार का व्यवहार किया जाय, उसे मूल का अङ्ग मान लिया जाय या प्रक्षिप्त? क्योंकि रत्नकरण्ड में **उत्सन्नदोष आप्त** के लक्षणरूप में उसकी स्थिति के स्पष्ट होने पर अथवा **प्रकीर्त्यते** के स्थान पर **प्रदोषमुक्** जैसे पाठ का आविर्भाव होने पर मैं आप्तमीमांसा के साथ उसका कोई विरोध नहीं देखता हूँ। और इसीलिये तत्सम्बन्धी अपने निर्णयादि को उस समय पत्रों में प्रकाशित करने की कोई जरूरत नहीं समझी गई, वह सब समीचीन धर्मशास्त्र की अपनी प्रस्तावना के लिये सुरक्षित रक्खा गया था। हाँ, यह बात दूसरी है कि उक्त '**क्षुत्पिपासा**' नामक पद्य के प्रक्षिप्त होने अथवा मूल ग्रन्थ का वास्तविक अंग सिद्ध न होने पर प्रोफेसर साहब की प्रकृत-चर्चा का मूलाधार ही समाप्त हो जाता है, क्योंकि रत्नकरण्ड के इस एक पद्य को लेकर ही उन्होंने आप्तमीमांसा-गत दोष-स्वरूप के साथ उसके विरोध की

Scanned with OKEN Scanner

कल्पना करके दोनों ग्रन्थों के भिन्न-कर्तृत्व की चर्चा को उठाया था, शेष तीन आपत्तियाँ तो उसमें बाद को पुष्टि प्रदान करने के लिये शामिल होती रही हैं। और इस पुष्टि से प्रोफेसर साहब ने मेरे उस पत्र-प्रेषणादि को यदि अपनी प्रथम आपत्ति के परिहार का एक विशेष प्रयत्न समझ लिया है, तो वह स्वाभाविक है, उसके लिये मैं उन्हें कोई दोष नहीं देता। मैंने अपनी दृष्टि और स्थिति का स्पष्टीकरण कर दिया है। (जै.सा.इ.वि.प्र./खं.१/पृ. ४३३-४३४)।

"मेरा उक्त पत्र जिन विद्वानों को भेजा गया था, उनमें से कुछ का तो कोई उत्तर ही प्राप्त नहीं हुआ, कुछ ने अनवकाशादि के कारण उत्तर देने में अपनी असमर्थता व्यक्त की, कुछ ने अपनी सहमति प्रकट की, और शेष ने असहमति। जिन्होंने सहमति प्रकट की उन्होंने मेरे कथन को 'बुद्धिगम्य तर्कपूर्ण' तथा युक्तिवाद को 'अतिप्रबल' बतलाते हुए उक्त छठे पद्य को संदिग्धरूप में तो स्वीकार किया है, परन्तु जब तक किसी भी प्राचीन प्रति में उसका अभाव न पाया जाय, तब तक उसे 'प्रक्षिप्त' कहने में अपना संकोच व्यक्त किया है। और जिन्होंने असहमति प्रकट की है, उन्होंने उक्त पद्य को ग्रन्थ का मौलिक अंग बतलाते हुए उसके विषय में प्रायः इतनी ही सूचना की है कि वह पूर्व-पद्य में वर्णित आप्त के तीन विशेषणों में से 'उत्सन्न-दोष' विशेषण के स्पष्टीकरण अथवा व्याख्यादि को लिये हुए है। और उस सूचनादि पर से यह पाया जाता है कि वह उनके सरसरी विचार का परिणाम है, प्रश्न के अनुरूप विशेष ऊहापोह से काम नहीं लिया गया अथवा उसके लिये उन्हें यथेष्ट अवसर नहीं मिल सका। चुनाँचे कुछ विद्वानों ने उसकी सूचना भी अपने पत्रों में की है, जिसके दो नमूने इस प्रकार हैं—

"रत्नकरण्डश्रावकाचार के जिस श्लोक की ओर आपने ध्यान दिलाया है, उस पर मैंने विचार किया, मगर मैं अभी किसी नतीजे पर नहीं पहुँच सका। श्लोक ५ में उच्छिन्नदोष, सर्वज्ञ और आगमेशी को आप्त कहा है, मेरी दृष्टि में उच्छिन्नदोष की व्याख्या एवं पुष्टि श्लोक ६ करता है और आगमेशी की व्याख्या श्लोक ७ करता है। रही सर्वज्ञता, उसके सम्बन्ध में कुछ नहीं कहा है। इसका कारण यह जान पड़ता है कि आप्तमीमांसा में उसकी पृथक् विस्तार से चर्चा की है, इसलिये उसके सम्बन्ध में कुछ नहीं कहा। श्लोक ६ में यद्यपि सब दोष नहीं आते, किन्तु दोषों की संख्या प्राचीन परम्परा में कितनी थी, यह खोजना चाहिये। श्लोक की शब्द-रचना भी समन्तभद्र के अनुकूल है, अभी और विचार करना चाहिए।" (यह पूरा उत्तर पत्र है)।

"इस समय बिल्कुल फुरसत में नहीं हूँ---यहाँ तक कि दो-तीन दिन बाद आपके पत्र को पूरा पढ़ सका।---पद्य के बारे में अभी मैंने कुछ भी नहीं सोचा

Scanned with OKEN Scanner

था, जो समस्याएँ आपने उसके बारे में उपस्थित की हैं, वे आपके पत्र को देखने के बाद ही मेरे सामने आई हैं, इसलिये इसके विषय में जितनी गहराई के साथ आप सोच सकते हैं, मैं नहीं, और फिर मुझे इस समय गहराई के साथ निश्चिन्त होकर सोचने का अवकाश नहीं, इसलिये जो कुछ मैं लिख रहा हूँ, उसमें कितनी दृढ़ता होगी, यह मैं नहीं कह सकता। फिर भी आशा है कि आप मेरे विचारों पर ध्यान देंगे।"

"हाँ, इन्हीं विद्वानों में से तीन ने छठे पद्य को संदिग्ध अथवा प्रक्षिप्त करार दिये जाने पर अपनी कुछ शंका अथवा चिन्ता भी व्यक्ति की है, जो इस प्रकार है–

"(छठे पद्य के संदिग्ध होने पर) ७वें पद्य की संगति आप किस तरह बिठलाएँगे और यदि ७वें की स्थिति संदिग्ध हो जाती है तो ८वाँ पद्य भी अपने आप संदिग्धता की कोटि में पहुँच जाता है।"

"यदि पद्य नं० ६ प्रकरण के विरुद्ध है, तो ७ और ८ भी संकट में ग्रस्त हो जायेंगे।"

"नं० ६ के पद्य को टिप्पणीकारकृत स्वीकार किया जाय, तो मूलग्रन्थकार द्वारा लक्षण में ३ विशेषण देखकर भी ७-८ में दो का ही समर्थन या स्पष्टीकरण किया गया, पूर्व विशेषण के सम्बन्ध में कोई स्पष्टीकरण नहीं किया, यह दोषापत्ति होगी।" (जै.सा.इ.वि.प्र./खं.१/पृ.४३४-४३६)।

"इन तीनों आशंकाओं अथवा आपत्तियों का आशय प्रायः एक ही है और वह यह कि यदि छठे पद्य को असंगत कहा जावेगा तो ७वें तथा ८वें पद्य को भी असंगत कहना होगा। परन्तु बात ऐसी नहीं है। छठा पद्य ग्रन्थ का अंग न रहने पर भी ७ वें तथा ८वें पद्य को असंगत नहीं कहा जा सकता, क्योंकि ७वें पद्य में सर्वज्ञ की, आगमेशी की, अथवा दोनों विशेषणों की व्याख्या या स्पष्टीकरण नहीं है, जैसा कि अनेक विद्वानों ने भिन्न-भिन्न रूप में उसे समझ लिया है। उसमें तो उपलक्षणरूप से आप्त की नाममाला का उल्लेख है, जिसे **उपलाल्यते** पद के द्वारा स्पष्ट घोषित भी किया गया है, और उसमें आप्त के तीनों ही विशेषणों को लक्ष्य में रखकर नामों का यथावश्यक संकलन किया गया है। इस प्रकार की नाममाला देने की प्राचीन समय में कुछ पद्धति जान पड़ती है, जिसका एक उदाहरण पूर्ववर्ती आचार्य कुन्दकुन्द के **मोक्खपाहुड** में और दूसरा उत्तरवर्ती आचार्य पूज्यपाद (देवनन्दी) के **समाधितंत्र** में पाया जाता है। इन दोनों ग्रन्थों में परमात्मा का स्वरूप देने के अनन्तर उसकी नाममाला का जो कुछ उल्लेख किया है, वह ग्रन्थ-क्रम से इस प्रकार है–

Scanned with OKEN Scanner

मलरहिओ कलचत्तो अणिंदिओ केवलो विसुद्धप्पा।
परमेट्ठी परमजिणो सिवंकरो सासओ सिद्धो॥ ६॥

निर्मलः केवलः शुद्धो विविक्तः प्रभुरव्ययः।
परमेष्ठी परात्मेति परमात्मेश्वरो जिनः॥ ६॥

"इन पद्यों में कुछ नाम तो समान अथवा समानार्थक हैं और कुछ एक-दूसरे से भिन्न हैं, और इससे यह स्पष्ट सूचना मिलती है कि परमात्मा को उपलक्षित करनेवाले नाम तो बहुत हैं, ग्रन्थकारों ने अपनी-अपनी रुचि तथा आवश्यकता के अनुसार उन्हें अपने-अपने ग्रन्थ में यथास्थान ग्रहण किया है। समाधितंत्र-ग्रन्थ के टीकाकार आचार्य प्रभाचन्द्र ने, **'तद्वाचिकां नाममालां दर्शयन्नाह'** इस प्रस्तावना वाक्य के द्वारा यह सूचित भी किया है कि इस छठे श्लोक में परमात्मा के नाम की वाचिका नाम-माला का निदर्शन है। रत्नकरण्ड की टीका में भी प्रभाचन्द्राचार्य ने **'आप्तस्य वाचिकां नाममालां प्ररूपयन्नाह'**. इस प्रस्तावना-वाक्य के द्वारा यह सूचना की है कि ७वें पद्य में आप्त की नाममाला का निरूपण है। परन्तु उन्होंने साथ में आप्त का एक विशेषण **उक्तदोषैर्विवर्जितस्य** भी दिया है, जिसका कारण पूर्व में **उत्सन्नदोष** की दृष्टि से आप्त के लक्षणात्मक पद्य का होना कहा जा सकता है, अन्यथा वह नाममाला एकमात्र **उत्सन्नदोष आप्त** की नहीं कही जा सकती, क्योंकि उसमें **परं ज्योति** और **सर्वज्ञ** जैसे नाम सर्वज्ञ आप्त के, **सार्वः** और **शास्ता** जैसे नाम आगमेशी (परमहितोपदेशक) आप्त के स्पष्ट वाचक भी मौजूद हैं। वास्तव में वह आप्त के तीनों विशेषणों को लक्ष्य में रखकर ही संकलित की गई है, और इसलिये ७वें पद्य की स्थिति ५वें पद्य के अनन्तर ठीक बैठ जाती है, उसमें असंगति जैसी कोई भी बात नहीं है। ऐसी स्थिति में ७वें पद्य का नम्बर ६ हो जाता है और तब पाठकों को यह जानकर कुछ आश्चर्य-सा होगा कि इन नाममालावाले पद्यों का तीनों ही ग्रन्थों में छठा नम्बर पड़ता है, जो किसी आकस्मिक अथवा रहस्यमय-घटना का ही परिणाम कहा जा सकता है।" (जै.सा.इ.वि.प्र./ खं.१ /पृ.४३६-४३७)।

"इस तरह छठे पद्य के अभाव में जब ७वाँ पद्य असंगत नहीं रहता तब ८वाँ पद्य असंगत हो ही नहीं सकता, क्योंकि वह ७वें पद्य में प्रयुक्त हुए **विराग** और **शास्ता** जैसे विशेषण-पदों के विरोध की शंका के समाधान रूप में है।

"इसके सिवाय, प्रयत्न करने पर भी रत्नकरण्ड की ऐसी कोई प्राचीन प्रतियाँ मुझे अभी तक उपलब्ध नहीं हो सकी हैं, जो प्रभाचन्द्र की टीका से पहले की अथवा विक्रम की ११ वीं शताब्दी की या उससे भी पहले की लिखी हुई हों। अनेकवार कोल्हापुर के प्राचीन शास्त्र-भण्डार को टटोलने के लिये डॉ० ए० एन० उपाध्ये जी

Scanned with OKEN Scanner

से निवेदन किया गया, परन्तु हर बार यही उत्तर मिलता रहा कि भट्टारक जी मठ में मौजूद नहीं हैं, बाहर गये हुए हैं। वे अक्सर बाहर ही घूमा करते हैं। और बिना उनकी मौजूदगी के मठ के शास्त्रभण्डार को देखा नहीं जा सकता।" (जै.सा.इ.वि. प्र./खं.१/पृ. ४३७-४३८)।

## निरसन

### १. आप्तमीमांसा में आप्तदोष के स्वरूप का वर्णन नहीं

"ऐसी हालत में रत्नकरण्ड का छठा पद्य अभी तक मेरे विचाराधीन ही चला जाता है। फिलहाल, वर्तमान चर्चा के लिये, मैं उसे मूलग्रन्थ का अंग मानकर ही प्रोफेसर साहब की चारों आपत्तियों पर अपना विचार और निर्णय प्रकट कर देना चाहता हूँ। और वह निम्न प्रकार है—

"I. रत्नकरण्ड को आप्तमीमांसाकार स्वामी समन्तभद्र की कृति न बतलाने में प्रोफेसर साहब की जो सबसे बड़ी दलील है, वह यह है कि **रत्नकरण्ड के 'क्षुत्पिपासा' नामक पद्य में दोष का जो स्वरूप समझाया गया है, वह आप्तमीमांसाकार के अभिप्रायानुसार हो ही नहीं सकता, अर्थात् आप्तमीमांसाकार का दोष के स्वरूप-विषय में जो अभिमत है, वह रत्नकरण्ड के उपर्युक्त पद्य में वर्णित दोष-स्वरूप के साथ मेल नहीं खाता, विरुद्ध पड़ता है, और इसलिये दोनों ग्रन्थ एक ही आचार्य की कृति नहीं हो सकते।** इस दलील को चरितार्थ करने के लिये सबसे पहले यह मालूम होने की जरूरत है कि आप्तमीमांसाकार का दोष के स्वरूप-विषय में क्या अभिमत अथवा अभिप्राय है और उसे प्रोफेसर साहब ने कहाँ से अवगत किया है? मूल आप्तमीमांसा पर से? आप्तमीमांसा की टीकाओं पर से? अथवा आप्तमीमांसाकार के दूसरे ग्रन्थों पर से? और उसके बाद यह देखना होगा कि वह रत्नकरण्ड के '**क्षुत्पिपासा**' नामक पद्य के साथ मेल खाता अथवा संगत बैठता है या कि नहीं।

"प्रोफेसर साहब ने आप्तमीमांसाकार के द्वारा अभिमत दोष के स्वरूप का कोई स्पष्ट उल्लेख नहीं किया। अपने अभिप्रायानुसार उसका केवल कुछ संकेत ही किया है। उसका प्रधान कारण यह मालूम होता है कि मूल आप्तमीमांसा में कहीं भी दोष का कोई स्वरूप दिया हुआ नहीं है। 'दोष' शब्द का प्रयोग कुल पाँच कारिकाओं नं० ४, ६, ५६, ६२, ८० में हुआ है, जिनमें से पिछली तीन कारिकाओं में बुद्ध्यसंचरदोष, वृत्तिदोष और प्रतिज्ञा तथा हेतु-दोष का क्रमशः उल्लेख है, आप्तदोष से सम्बन्ध रखनेवाली केवल ४थी तथा ६ठी कारिकाएँ ही हैं और वे दोनों ही 'दोष' के स्वरूपकथन से रिक्त हैं। और इसलिये दोष का अभिमत स्वरूप जानने के लिये आप्तमीमांसा की

टीकाओं तथा आप्तमीमांसाकार की दूसरी कृतियों का आश्रय लेना होगा। साथ ही ग्रन्थ के सन्दर्भ अथवा पूर्वापरकथन-सम्बन्ध को भी देखना होगा।'' (जै.सा.इ.वि.प्र./ खं.१/पृ. ४३८-४३९)।

## (टीकाओं का विचार)

### २. अष्टसहस्री के 'विग्रहादिमहोदय' में भुक्त्युपसर्गाभाव अन्तर्भूत

''प्रोफेसर साहब ने ग्रन्थसन्दर्भ के साथ टीकाओं का आश्रय लेते हुए, अष्टसहस्रीटीका के आधार पर, जिसमें अकलङ्कदेव की अष्टशती टीका भी शामिल है, यह प्रतिपादित किया है कि '**दोषावरणयोर्हानिः**' इस चतुर्थ-कारिका-गत वाक्य और '**स त्वमेवासि निर्दोषः**' इस छठी कारिकागत वाक्य में प्रयुक्त 'दोष' शब्द का अभिप्राय उन अज्ञान तथा राग-द्वेषादिक [८७] वृत्तियों से है, जो ज्ञानावरणादि घातिया कर्मों से उत्पन्न होती हैं और केवली में उनका अभाव होने पर नष्ट हो जाती हैं।[८८] इस दृष्टि से रत्नकरण्ड के उक्त छठे पद्य में उल्लेखित भय, स्मय, राग, द्वेष और मोह ये पाँच दोष तो आपको असङ्गत अथवा विरुद्ध मालूम नहीं पड़ते, शेष क्षुधा, पिपासा, जरा, आतङ्क (रोग), जन्म और अन्तक (मरण), इन छह दोषों को आप असंगत समझते हैं, उन्हें सर्वथा असातावेदनीयादि अघातिया-कर्मजन्य मानते हैं और उनका आप्तकेवली में अभाव बतलाने पर अघातिया कर्मों का सत्त्व तथा उदय वर्तमान रहने के कारण सैद्धान्तिक कठिनाई महसूस करते हैं।[८९] परन्तु अष्टसहस्री में ही द्वितीया कारिका के अन्तर्गत **विग्रहादिमहोदयः**[९०] पद का जो अर्थ **शश्वन्निःस्वेदत्वादि** किया है और उसे **घातिक्षयजः** बतलाया है, उस पर प्रो० साहब ने पूरी तौर पर ध्यान दिया मालूम नहीं होता। **शश्वन्निःस्वेदत्वादिः** पद में उन ३४ अतिशयों तथा ८ प्रातिहार्यों का समावेश है, जो श्रीपूज्यपाद के **नित्यं निःस्वेदत्वं** इस भक्तिपाठगत **अर्हत्स्तोत्र** में वर्णित हैं। इन अतिशयों में अर्हत्-स्वयम्भू के देहसम्बन्धी जो १० अतिशय हैं, उन्हें देखते हुए जरा और रोग के लिये कोई स्थान नहीं रहता और भोजन तथा उपसर्ग के अभावरूप (भुक्त्युपसर्गाभावः) जो दो अतिशय हैं, उनकी उपस्थिति में क्षुधा और पिपासा के लिये कोई अवकाश नहीं मिलता। शेष 'जन्म' का अभिप्राय पुनर्जन्म से और 'मरण' का अभिप्राय अपमृत्यु अथवा उस मरण से है, जिसके अनन्तर दूसरा भव (संसारपर्याय) धारण किया जाता है। घातियाकर्म के क्षय हो जाने पर इन दोनों

---

८७. ''दोषास्तावदज्ञान-राग-द्वेषादय उक्ताः।'' अष्टसहस्री ६/६२।

८८. अनेकान्त/ वर्ष ७/किरण ७-८/ पृ. ६२।

८९. अनेकान्त /वर्ष ७/किरण ३-४/पृ. ३१।

९०. ''विग्रहादिमहोदयः शश्वन्निःस्वेदत्वादिः घातिक्षयजः।''

Scanned with OKEN Scanner

की सम्भावना भी नष्ट हो जाती है। इस तरह घातियाकर्मों का क्षय होने पर क्षुत्पिपासादि शेष छहों दोषों का अभाव होना भी अष्टसहस्री-सम्मत है, ऐसा समझना चाहिए। वसुनन्दि-वृत्ति में तो दूसरी कारिका का अर्थ देते हुए, "**क्षुत्पिपासाजरारुजाऽपमृत्व्वाद्यभावः इत्यर्थः**" इस वाक्य के द्वारा क्षुधा-पिपासादि के अभाव को साफ तौर पर विग्रहादिमहोदय के अन्तर्गत किया है, विग्रहादि-महोदय को अमानुषातिशय लिखा है तथा अतिशय को पूर्वावस्था का अतिरेक बतलाया है। और छठी कारिका में प्रयुक्त हुए 'निर्दोष' शब्द के अर्थ में अविद्या-रागादि के साथ क्षुधादि के अभाव को भी सूचित किया है। यथा—

"**निर्दोष अविद्यारागदिविरहितः क्षुदादिविरहितो वा अनन्तज्ञानादिसम्बन्धेन इत्यर्थः।**"

"इस वाक्य में **अनन्तज्ञानादि-सम्बन्धेन** पद **क्षुदादिविरहितः** पद के साथ अपनी खास विशेषता एवं महत्त्व रखता है और इस बात को सूचित करता है कि जब आत्मा में अनन्तज्ञान, अनन्तदर्शन, अनन्तसुख और अनन्तवीर्य की आविर्भूति होती है, तब उसके सम्बन्ध से क्षुधादि दोषों का स्वतः अभाव हो जाता है अर्थात् उनका अभाव हो जाना उसका आनुषङ्गिक फल है, उसके लिये वेदनीयकर्म का अभाव-जैसे किसी दूसरे साधन के जुटने-जुटाने की जरूरत नहीं रहती। और यह ठीक ही है, क्योंकि मोहनीयकर्म के साहचर्य अथवा सहाय के बिना वेदनीयकर्म अपना कार्य करने में उसी तरह असमर्थ होता है, जिस तरह ज्ञानावरणकर्म के क्षयोपशम से उत्पन्न हुआ ज्ञान वीर्यान्तरायकर्म का अनुकूल क्षयोपशम साथ में न होने से अपना कार्य करने में समर्थ नहीं होता है, अथवा चारों घातिया कर्मों का अभाव हो जाने पर वेदनीयकर्म अपना दुःखोत्पादनादि कार्य करने में उसी प्रकार असमर्थ होता है, जिस प्रकार कि मिट्टी और पानी आदि के बिना बीज अपना अंकुरोत्पादन कार्य करने में असमर्थ होता है। मोहादिक के अभाव में वेदनीय की स्थिति जीवितशरीर-जैसी न रहकर मृतशरीर-जैसी हो जाती है, उस में प्राण नहीं रहता अथवा जली रस्सी के समान अपना कार्य करने की शक्ति नहीं रहती। इस विषय के समर्थन में कितने ही शास्त्रीय प्रमाण आप्तस्वरूप, सर्वार्थसिद्धि, तत्त्वार्थवार्तिक, श्लोकवार्तिक, आदिपुराण और जयधवला जैसे ग्रन्थों पर से पण्डित दरबारीलाल जी के लेखों में उद्धृत किये गये हैं[११] जिन्हें यहाँ फिर से उपस्थित करने की जरूरत मालूम नहीं होती। ऐसी स्थिति में क्षुत्पिपासा जैसे दोषों को सर्वथा वेदनीयजन्य नहीं कहा जा सकता, वेदनीयकर्म उन्हें उत्पन्न करने में सर्वथा स्वतन्त्र नहीं है। और कोई भी कार्य किसी एक ही कारण से उत्पन्न नहीं हुआ करता,

११. अनेकान्त / वर्ष ८ / किरण ४-५ / पृ. १५९-१६१।

Scanned with OKEN Scanner

उपादान कारण के साथ अनेक सहकारी कारणों की भी उसके लिये जरूरत हुआ करती है, उन सबका संयोग नहीं मिलता तो कार्य भी नहीं हुआ करता। और इसलिये केवली में क्षुधादि का अभाव मानने पर कोई भी सैद्धान्तिक कठिनाई उत्पन्न नहीं होती। वेदनीय का सत्त्व और उदय वर्तमान रहते हुए भी आत्मा में अनन्तज्ञान सुख-वीर्यादि का सम्बन्ध स्थापित होने से वेदनीयकर्म का पुद्गल-परमाणु-पुञ्ज क्षुधादि दोषों को उत्पन्न करने में उसी तरह असमर्थ होता है, जिस तरह कि कोई विषद्रव्य, जिसकी मारणशक्ति को मन्त्र तथा औषधादि के बल पर प्रक्षीण कर दिया गया हो, मारने का कार्य करने में असमर्थ होता है। निःसत्त्व हुए विषद्रव्य के परमाणुओं को जिस प्रकार विषद्रव्य के ही परमाणु कहा जाता है, उसी प्रकार निःसत्त्व हुए वेदनीयकर्म के परमाणुओं को वेदनीयकर्म के ही परमाणु कहा जाता है। इस दृष्टि से ही आगम में उनके वेदनीयकर्म के परमाणुओं के उदयादिक की व्यवस्था की गई है। उसमें कोई भी बाधा अथवा सैद्धान्तिक कठिनाई नहीं होती और इसलिये प्रोफेसर साहब का यह कहना कि 'क्षुधादि दोषों का अभाव मानने पर केवली में अघातिया कर्मों के भी नाश का प्रसङ्ग आता है',[९२] उसी प्रकार युक्तिसङ्गत नहीं है, जिस प्रकार कि धूम के अभाव में अग्नि का भी अभाव बतलाना अथवा किसी औषध-प्रयोग में विषद्रव्य की मारणशक्ति के प्रभावहीन हो जाने पर विषद्रव्य के परमाणुओं का ही अभाव प्रतिपादित करना। प्रत्युत इसके, घातिया कर्मों का अभाव होने पर भी यदि वेदनीयकर्म के उदयादिवश केवली में क्षुधादि की वेदनाओं को और उनके निरसनार्थ भोजनादि के ग्रहण की प्रवृत्तियों को माना जाता है, तो उससे कितनी ही दुर्निवार सैद्धान्तिक कठिनाइयाँ एवं बाधाएँ उपस्थित होती हैं, जिनमें से दो-तीन नमूने के तौर पर इस प्रकार हैं—

"क—असातावेदनीय के उदयवश केवली को यदि भूख-प्यास की वेदनाएँ सताती हैं, जो कि संक्लेश परिणाम की अविनाभाविनी हैं[९३] तो केवली में अनन्तसुख का होना बाधित ठहरता है। और उस दुःख को न सह सकने के कारण जब भोजन ग्रहण किया जाता है, तो अनन्तवीर्य भी बाधित हो जाता है, उसका कोई मूल्य नहीं रहता अथवा वीर्यान्तरायकर्म का अभाव उसके विरुद्ध पड़ता है।

"ख—यदि क्षुधादि वेदनाओं के उदय-वश केवली में भोजनादि की इच्छा उत्पन्न होती है, तो केवली के मोहकर्म का अभाव हुआ नहीं कहा जा सकता, क्योंकि इच्छा मोह का परिणाम है और मोह के सद्भाव में केवलित्व भी नहीं बनता। दोनों परस्पर विरुद्ध हैं।

---

९२. अनेकान्त / वर्ष ७ / किरण ७-८ / पृ. ६२।

९३. "संकिलेसाविणाभाविणीए भुक्खाए दज्झमाणस्स।" धवला/ष.खं./पु १२/४,२,७,२६/पृ. २४।

Scanned with OKEN Scanner

"ग—भोजनादिकी इच्छा उत्पन्न होने पर केवली में नित्य ज्ञानोपयोग नहीं बनता, और नित्य ज्ञानोपयोग न बन सकने पर उनका ज्ञान छद्मस्थों (असर्वज्ञों) के समान क्षायोपशमिक ठहरता है, क्षायिक नहीं। और तब ज्ञानावरण तथा उसके साथी दर्शनावरण नाम के घातियाकर्मों का अभाव भी नहीं बनता।

घ—वेदनीयकर्म के उदयजन्य जो सुख-दुःख होता है, वह सब इन्द्रियजन्य होता है और केवली के इन्द्रियज्ञान की प्रवृत्ति रहती नहीं। यदि केवली में क्षुधातृषादि की वेदनाएँ मानी जाएँगी, तो इन्द्रियज्ञान की प्रवृत्ति होकर केवलज्ञान का विरोध उपस्थित होगा, क्योंकि केवलज्ञान और मतिज्ञानादि युगपत् नहीं होते।

"ङ—क्षुधादि की पीड़ा के वश भोजनादि की प्रवृत्ति यथाख्यातचारित्र की विरोधनी है। भोजन के समय मुनि को प्रमत्त (छठा) गुणस्थान होता है और केवली भगवान् १३वें गुणस्थानवर्ती होते हैं, जिससे फिर छठे में लौटना नहीं बनता। इससे यथाख्यातचारित्र को प्राप्त केवली भगवान् के भोजन का होना, उनकी चर्या और पदस्थ के विरुद्ध पड़ता है।

"इस तरह क्षुधादि की वेदनाएँ और उनकी प्रतिक्रिया मानने पर केवली में घातियाकर्मों का अभाव ही घटित नहीं हो सकेगा, जो कि एक बहुत बड़ी सैद्धान्तिक बाधा होगी। इसी से क्षुधादि के अभाव को **घातिकर्मक्षयजः** तथा **अनन्तज्ञानादिसम्बन्ध-जन्य** बतलाया गया है, जिसके मानने पर कोई भी सैद्धान्तिक बाधा नहीं रहती। और इसलिये टीकाओं पर से क्षुधादि का उन दोषों के रूप में निर्दिष्ट तथा फलित होना सिद्ध है, जिनका केवली भगवान् में अभाव होता है। ऐसी स्थिति में रत्नकरण्ड के उक्त छठे पद्य को क्षुत्पिपासादि दोषों की दृष्टि से भी आप्तमीमांसा के साथ असंगत अथवा विरुद्ध नहीं कहा जा सकता।" (जै.सा.इ.वि.प्र./खं.१/पृ. ४३९-४४३)।

## (ग्रन्थ के सन्दर्भ की जाँच)

### ३. आप्तमीमांसाकार को केवली में क्षुधादिदोष मान्य नहीं

"अब देखना यह है कि क्या ग्रन्थ का सन्दर्भ स्वयं इसके कुछ विरुद्ध पड़ता है? जहाँ तक मैंने ग्रन्थ के सन्दर्भ की जाँच की है और उसके पूर्वाऽपर-कथन-सम्बन्ध को मिलाया है, मुझे उसमें कहीं भी ऐसी कोई बात नहीं मिली, जिसके आधार पर केवली में क्षुत्पिपासादि के सद्भाव को स्वामी समन्तभद्र की मान्यता कहा जा सके। प्रत्युत इसके, ग्रन्थ की प्रारम्भिक दो कारिकाओं में जिन अतिशयों का देवागम-नभोयान-चामरादि विभूतियों के तथा अन्तर्बाह्य-विग्रहादि-महोदयों के रूप में उल्लेख एवं संकेत किया गया है और जिनमें घातिक्षय-जन्य होने से क्षुत्पिपासादि

के अभाव का भी समावेश है, उनके विषय में एक भी शब्द ग्रन्थ में ऐसा नहीं पाया जाता, जिससे ग्रन्थकार की दृष्टि में उन अतिशयों का केवली भगवान् में होना अमान्य समझा जाय। ग्रन्थकार महोदय ने '**मायाविष्वपि दृश्यन्ते**' तथा '**दिव्यः सत्यः दिवौकस्स्वप्यस्ति**' इन वाक्यों में प्रयुक्त हुए **अपि** शब्दों के द्वारा इस बात को स्पष्ट घोषित कर दिया है कि वे अर्हत्केवली में उन विभूतियों तथा विग्रहादिमहोदय-रूप **अतिशयों** का सद्भाव मानते हैं, परन्तु इतने से ही वे उन्हें महान् (पूज्य) नहीं समझते, क्योंकि ये अतिशय अन्यत्र मायावियों (इन्द्रजालियों) तथा रागादियुक्त देवों में भी पाये जाते हैं, भले ही उनमें वे वास्तविक अथवा उस सत्यरूप में न हों, जिसमें कि वे क्षीणकषाय अर्हत्केवली में पाये जाते हैं। और इसलिये उनकी मान्यता का आधार केवल आगमाश्रित श्रद्धा ही नहीं है, बल्कि एक दूसरा प्रबल आधार वह गुणज्ञता अथवा परीक्षा की कसौटी है, जिसे लेकर उन्होंने कितने ही आप्तों की जाँच की है और फिर उस परीक्षा के फलस्वरूप वे वीर-जिनेन्द्र के प्रति यह कहने में समर्थ हुए हैं कि 'वह निर्दोष आप्त आप ही हैं' **स त्वमेवासि निर्दोषः**। साथ ही **युक्तिशास्त्राविरोधिवाक्** इस पद के द्वारा उस कसौटी को भी व्यक्त कर दिया है, जिसके द्वारा उन्होंने आप्तों के वीतरागता और सर्वज्ञता जैसे असाधारण गुणों की परीक्षा की है, जिनके कारण उनके वचन युक्ति और शास्त्र से अविरोधरूप यथार्थ होते हैं, और आगे संक्षेप में परीक्षा की तफसील भी दे दी है। इस परीक्षा में जिनके आगम-वचन युक्ति-शास्त्र से अविरोधरूप नहीं पाये गये, उन सर्वथा एकान्तवादियों को आप्त न मान कर **आप्ताभिमानदग्ध** घोषित किया है। इस तरह निर्दोष-वचन-प्रणयन के साथ सर्वज्ञता और वीतरागता जैसे गुणों को आप्त का लक्षण प्रतिपादित किया है। परन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि आप्त में दूसरे गुण नहीं होते, गुण तो बहुत होते हैं, किन्तु वे लक्षणात्मक अथवा इन तीन गुणों की तरह खास तौर से व्यावर्तात्मक नहीं, और इसलिये आप्त के लक्षण में वे भले ही ग्राह्य न हों, परन्तु आप्त के स्वरूप-चिन्तन में उन्हें अग्राह्य नहीं कहा जा सकता। लक्षण और स्वरूप में बड़ा अन्तर है। लक्षणनिर्देश में जहाँ कुछ असाधारण गुणों को ही ग्रहण किया जाता है, वहाँ स्वरूप के निर्देश अथवा चिन्तन में अशेष गुणों के लिए गुञ्जाइश रहती है। अतः अष्टसहस्रीकार ने **विग्रहादिमहोदयः** का जो अर्थ **शश्वन्निःस्वेदत्वादिः** किया है और जिसका विवेचन ऊपर किया जा चुका है, उस पर टिप्पणी करते हुए प्रो० सा० ने जो यह लिखा है कि "शरीरसम्बन्धी गुणधर्मों का प्रकट होना, न होना आप्त के स्वरूपचिन्तन में कोई महत्त्व नहीं रखता"[९४] वह ठीक नहीं है। क्योंकि स्वयं स्वामी समन्तभद्र ने अपने स्वयम्भूस्तोत्र में ऐसे दूसरे कितने ही गुणों का चिन्तन किया है,

९४. अनेकान्त/वर्ष ७/किरण ७-८/पृ. ६२।

Scanned with OKEN Scanner

जिनमें शरीरसम्बन्धी गुणधर्मों के साथ अन्य अतिशय भी आ गये हैं।[९५] और इससे यह और भी स्पष्ट हो जाता है कि स्वामी समन्तभद्र अतिशयों को मानते थे और उनके स्मरण-चिन्तन को महत्त्व भी देते थे।

"ऐसी हालत में आप्तमीमांसा ग्रन्थ के सन्दर्भ की दृष्टि से भी आप्त में क्षुत्पिपासादिक के अभाव को विरुद्ध नहीं कहा जा सकता और तब रत्नकरण्ड का उक्त छठा पद्य भी विरुद्ध नहीं ठहरता।" (जै.सा.इ.वि.प्र./खं.१/पृ. ४४३-४४५)।

### ४. 'विद्वान्' शब्द तत्त्वज्ञानी का वाचक, सर्वज्ञ का नहीं

"हाँ, प्रोफेसर साहब ने आप्तमीमांसा की ९३ वीं कारिका को विरोध में उपस्थित किया है, जो निम्न प्रकार है—

**पुण्यं ध्रुवं स्वतो दुःखात्पापं च सुखतो यदि।**
**वीतरागो मुनिर्विद्वांस्ताभ्यां युञ्ज्यान्निमित्ततः॥ ९३॥**

"इस कारिका के सम्बन्ध में प्रो० सा० का कहना है कि 'इसमें वीतराग सर्वज्ञ के दुःख की वेदना स्वीकार की गई है, जो कि कर्मसिद्धान्त की व्यवस्था के अनुकूल है, जब कि रत्नकरण्ड के उक्त छठे पद्य में क्षुत्पिपासादिक का अभाव बतलाकर

---

९५. इस विषय के सूचक कुछ वाक्य इस प्रकार हैं—

क— शरीररश्मिप्रसरः प्रभोस्ते बालार्करश्मिच्छविरालिलेप॥ २८॥
यस्याङ्गलक्ष्मीपरिवेषभिन्नं तमस्तमोऽरेरिव रश्मिभिन्नम्।
ननाश बाह्यं बहुमानसं च ध्यानप्रदीपातिशयेन भिन्नम्॥ ३७॥
समन्ततोऽङ्गभासां ते परिवेषेण भूयसा।
तमो बाह्यमपाकीर्णमध्यात्मं ध्यानतेजसा॥ ९५॥
यस्य च मूर्तिः कनकमयीव स्वस्फुरदाभाकृतपरिवेषा॥ १०७॥
शशिरुचिशुचिशुक्ललोहितं सुरभितरं विरजो निजं वपुः।
तव शिवमतिविस्मयं यते यदपि च वाङ्मनसीयमीहितम्॥ ११३॥

ख— नभस्तलं पल्लवयन्निव त्वं सहस्रपत्राम्बुजगर्भचारैः।
पादाम्बुजैः पातितमारदर्पो भूमौ प्रजानां विजहर्थ भूत्यै॥ २९॥
प्रातिहार्यविभवैः परिष्कृतो देहतोऽपि विरतो भवानभूत्॥ ७३॥
मानुषीं प्रकृतिमभ्यतीतवान् देवतास्वपि च देवता यतः॥ ७५॥
पूज्ये मुहुः प्राञ्जलि देवचक्रम्॥ ७९॥
सर्वज्ञज्योतिषोद्भूतस्तावको महिमोदयः।
कं न कुर्यात्प्रणम्रं ते सत्त्वं नाथ सचेतनम्॥ ९६॥
तव वागमृतं श्रीमत्सर्वभाषास्वभावकम्।
प्रीणयत्यमृतं यद्वत्प्राणिनो व्यापि संसदि॥ ९७॥
भूरपि रम्या प्रतिपदमासीज्जातविकोशाम्बुजमृदुहासा॥ १०८॥

दुःख की वेदना अस्वीकार की गई है, जिसकी संगति कर्मसिद्धान्त की उन व्यवस्थाओं के साथ नहीं बैठती, जिनके अनुसार केवली के भी वेदनीयकर्मजन्य वेदनाएँ होती हैं, और इसलिये रत्नकरण्ड का उक्त पद्य इस कारिका के सर्वथा विरुद्ध पड़ता है, दोनों ग्रन्थों का एककर्तृत्व स्वीकार करने में यह विरोध बाधक है।'[९६] जहाँ तक मैंने इस कारिका के अर्थ पर उसके पूर्वापर-सम्बन्ध की दृष्टि से और दोनों विद्वानों के ऊहापोह को ध्यान में लेकर विचार किया है, मुझे इसमें सर्वज्ञ का कहीं कोई उल्लेख मालूम नहीं होता। प्रो० साहब का जो यह कहना है कि 'कारिकागत **वीतरागः** और **विद्वान्** पद दोनों एक ही मुनि-व्यक्ति के वाचक हैं और वह व्यक्ति 'सर्वज्ञ' है, जिसका द्योतक विद्वान् पद साथ में लगा है,'[९७] वह ठीक नहीं है। क्योंकि पूर्वकारिका में[९८] जिस प्रकार अचेतन और अकषाय (वीतराग) ऐसे दो अबन्धक व्यक्तियों में बन्ध का प्रसंग उपस्थित करके पर में दुःख-सुख के उत्पादन का निमित्तमात्र होने से पाप-पुण्य के बन्ध की एकान्त मान्यता को सदोष सूचित किया है, उसी प्रकार इस कारिका में भी वीतराग मुनि और विद्वान् ऐसे दो अबन्धक व्यक्तियों में बन्ध का प्रसंग उपस्थित करके स्व (निज) में दुःख-सुख के उत्पादन का निमित्तमात्र होने से पुण्य-पाप के बन्ध की एकान्त मान्यता को सदोष बतलाया है, जैसा कि अष्टसहस्रीकार श्री विद्यानन्द आचार्य के निम्न टीका-वाक्य से भी प्रकट है—

**"स्वस्मिन् दुःखोत्पादनात् पुण्यं सुखोत्पादनात्तु पापमिति यदीष्यते तदा वीतरागो विद्वांश्च मुनिस्ताभ्यां पुण्यपापाभ्यामात्मानं युञ्ज्यान्निमित्तसद्भावात्, वीतरागस्य कायक्लेशादि-रूपदुःखोत्पत्तेर्विदुषस्तत्त्वज्ञानसन्तोषलक्षणसुखोत्पत्तेस्तन्निमित्तत्वात्।"**

"इसमें वीतराग के कायक्लेशादिरूप दुःख की उत्पत्ति को और विद्वान् के तत्त्वज्ञान-सन्तोष-लक्षण-सुख की उत्पत्ति को अलग-अलग बतलाकर दोनों (वीतराग और विद्वान्) के व्यक्तित्व को साफ तौर पर अलग घोषित कर दिया है। और इसलिये वीतराग का अभिप्राय यहाँ उस छद्मस्थ वीतरागी मुनि से है, जो रागद्वेष की निवृत्तिरूप सम्यक्चारित्र के अनुष्ठान में तत्पर होता है, केवली से नहीं, और अपनी उस चारित्रपरिणति के द्वारा बन्ध को प्राप्त नहीं होता। और विद्वान् का अभिप्राय उस सम्यग्दृष्टि अन्तरात्मा[९९] से है, जो तत्त्वज्ञान के अभ्यास द्वारा सन्तोष-सुख का अनुभव करता है और अपनी

---

९६. अनेकान्त/वर्ष ८/किरण ३/पृ.१३२ तथा वर्ष ९/कि.१/पृ. ९।
९७. अनेकान्त/वर्ष ७/कि. ३-४/पृ. ३४।
९८. पापं ध्रुवं परे दुःखात् पुण्यं च सुखतो यदि।
अचेतनाऽकषायौ च बध्येयातां निमित्ततः॥ ९२॥ आप्तमीमांसा।
९९. अन्तरात्मा के लिये 'विद्वान्' शब्द का प्रयोग आचार्य पूज्यपाद ने अपने समाधितन्त्र के **'त्यक्त्वारोपं पुनर्विद्वान् प्राप्नोति परमं पदम्'** (१०४) इस वाक्य में किया है और स्वामी

उस सम्यग्ज्ञानपरिणति के निमित्त से बन्ध को प्राप्त नहीं होता। **वह अन्तरात्मा मुनि भी हो सकता है और गृहस्थ भी**, परन्तु परमात्मस्वरूप सर्वज्ञ अथवा आप्त नहीं। (अनेकान्त/वर्ष ८/किरण १/पृ.३०)।[१००]

---

समन्तभद्र ने '**स्तुयान्न त्वा विद्वान् सततमभिपूज्यं नमिजिनम्**' (११६) तथा '**त्वमसि विदुषां मोक्षपदवी**' (११७) इन स्वयम्भूस्तोत्र के वाक्यों द्वारा जिन विद्वानों का उल्लेख किया है, वे भी अन्तरात्मा ही हो सकते हैं।

१००. यहाँ मेरा (प्रस्तुत ग्रन्थ-लेखक का) मत मुख्तार जी के मत से कुछ भिन्न है। आप्तमीमांसा की उपर्युक्त कारिकाओं को एक साथ रखकर देखा जाय—

पापं ध्रुवं परे दुःखात् पुण्यं च सुखतो यदि।
अचेतनाकषायौ च बध्येयातां निमित्ततः॥ ९२॥
पुण्यं ध्रुवं स्वतो दुःखात्पापं च सुखतो यदि।
वीतरागो मुनिर्विद्वांस्ताभ्यां युञ्ज्यान्निमित्ततः॥ ९३॥

ध्यान से देखने पर ज्ञात होता है कि पहली कारिका में **अचेतनाकषायौ** कर्तृपद द्विवचनात्मक है और 'बध्येयातां' क्रियापद भी द्विवचनात्मक है। अतः उसमें दो कर्त्ताओं के विषय में बात कही गयी है। किन्तु दूसरी कारिका में **मुनिः** कर्तृपद और **युञ्ज्यात्** क्रियापद दोनों एक वचनान्त हैं। इसलिए यहाँ एक ही कर्त्ता के विषय में कथन किया गया है। **वीतराग** तथा **विद्वान्** पद मुनि के विशेषण हैं। और '**मुनि**' शब्द छठे-सातवें गुणस्थानवर्ती मुनि का वाचक है, क्योंकि मुख्तार जी द्वारा पूर्वोद्धृत अष्टसहस्री टीका के 'स्वस्मिन् दुःखोत्पादनात् पुण्यं---' इत्यादि वाक्य में कहा गया है कि मुनि अपने में (विविध तप एवं केशलोच आदि के द्वारा) कायक्लेशादिरूप दुःख की तथा तत्त्वज्ञान का अवलम्बन कर सन्तोषरूपी सुख की उत्पत्ति करता है। और उसके आगे उसी ९३वीं कारिका की अष्टसहस्रीटीका में निम्नलिखित वाक्य आया है—

"**स्यान्मतं—'स्वस्मिन् दुःखस्य सुखस्य चोत्पत्तावपि वीतरागस्य तत्त्वज्ञानवतस्तदभिसन्धेरभावान्न पुण्यपापाभ्यां योगस्तस्य तदभिसन्धिनिबन्धनत्वात्' इति तर्ह्यनेकान्तसिद्धिरेवायाता।**"

इसका भावार्थ यह है कि यद्यपि वीतराग-तत्त्वज्ञानी मुनि स्वयं में दुःख-सुख उत्पन्न करता है, तथापि अभिसन्धिपूर्वक (अभिप्रायपूर्वक) न करने के कारण पुण्य-पाप से संयुक्त नहीं होता, क्योंकि पुण्य-पाप से संयोग अभिसन्धि (अभिप्राय) के निमित्त से होता है। इस प्रकार यहाँ स्व या पर में अभिप्रायपूर्वक सुख-दुःख उत्पन्न न करना 'वीतराग' होने का लक्षण है। यह अष्टसहस्री के निम्नलिखित वाक्यों से और भी स्पष्ट हो जाता है—

"**परस्मिन् सुखदुःखयोरुत्पादनात् चेतना एव बन्धार्हा इति चेत् तर्हि वीतरागाः कथं न बध्येरन्? तन्निमित्तत्वाद् बन्धस्य। तेषामभिसन्धिरभावान्न बन्ध इति---।**" (कारिका ९२)।

Scanned with OKEN Scanner

"अतः इस कारिका में जब केवली आप्त या सर्वज्ञ का कोई उल्लेख न होकर दूसरे दो सचेतन प्राणियों का उल्लेख है, तब रत्नकरण्ड के उक्त छठे पद्य के साथ इस कारिका का सर्वथा विरोध कैसे घटित किया जा सकता है? नहीं किया जा सकता, खासकर उस हालत में जब कि मोहादिक का अभाव और अनन्तज्ञानादिक का सद्भाव होने से केवली में दुःखादिक की वेदनाएँ वस्तुतः बनती ही नहीं और जिसका ऊपर कितना ही स्पष्टीकरण किया जा चुका है। मोहनीयादि कर्मों के अभाव में साता-असाता-वेदनीय-जन्य सुख-दुःख की स्थिति उस छाया के समान औपचारिक होती है, वास्तविक नहीं, जो दूसरे प्रकाश के सामने आते ही विलुप्त हो जाती है और अपना कार्य करने में समर्थ नहीं होती। और इसलिये प्रोफेसर साहब का यह लिखना

---

तथा कारिकागत **विद्वान्** शब्द तत्त्वज्ञानी अर्थ का वाचक है, जैसा कि उपर्युक्त अष्टसहस्रीवाक्य में **तत्त्वज्ञानवतः** पद से स्पष्ट है। तत्त्वज्ञान से सन्तोषसुख अथवा आहार-ग्रहण एवं वैयावृत्य से कायसुख प्राप्त करनेवाला मुनि भी वीतराग (सुखनिष्कांक्ष) होने पर ही पापबन्ध से बचता है। फलस्वरूप वीतराग और विद्वान् दोनों एक ही षष्ठ-सप्तम गुण- थानवर्ती मुनि के विशेषण हैं, अलग-अलग दो मुनियों के नहीं। अतः यहाँ 'वीतराग' पद अरहन्त का वाचक नहीं है और न 'विद्वान्' पद सर्वज्ञ का। कारण यह है कि अरहन्त अपने में कायक्लेशादिरूप दुःख की उत्पत्ति नहीं करते, क्योंकि घातिकर्मों का क्षय हो जाने से कायक्लेशादि तप और केशलोच आदि दुःखोत्पादक क्रियाएँ अनावश्यक हो जाती हैं। इसी प्रकार मोहनीय के क्षय से इच्छाओं का अभाव हो जाने पर असन्तोष का अभाव हो जाता है, जिससे सन्तोषसुख की प्राप्ति के लिए तत्त्वज्ञान में उपयोग लगाने की आवश्यकता नहीं रहती।

डॉ० दरबारीलाल जी कोठिया का भी कथन है कि "आप्तमीमांसा कारिका ९३ में जो वीतरागमुनि में सुखदुःख स्वीकार किया गया है, वह छठे आदि गुणस्थानवर्ती वीतरागमुनियों के ही बतलाया गया है, न कि तेरहवें चौदहवें-गुणस्थानवर्ती मुनि (केवली) के---वस्तुतः **वीतरागमुनि** शब्द से यहाँ समन्तभद्र को वह मुनि विवक्षित है, जिसके केशलुंचनादि कायक्लेश संभव है। और यह निश्चित है कि वह केवली के नहीं होता। **वीतरागमुनि** शब्द का प्रयोग केवली के अलावा छठे आदि गुणस्थानवर्तियों के लिए भी साहित्य में हुआ है। यथा—

१. सुविदितपयत्थसुत्तो संजमतवसंजुदो **विगदरागो**।
समणो समसुहदुक्खो भणिदो सुद्धोवओगो त्ति॥ १/१४॥ प्रवचनसार।

२. "सूक्ष्मसाम्परायछद्मस्थ**वीतराग**योश्चतुर्दश।" तत्त्वार्थसूत्र /९/१०।

"--- स्वयं स्वामी समन्तभद्र ने **वीतराग** जैसा ही **वीतमोह** शब्द का प्रयोग केवली-भिन्नों (केवली से भिन्न मुनियों) के लिए 'आप्तमीमांसा' का० ९८ में किया है। इससे स्पष्ट है कि रत्नकरण्ड और आप्तमीमांसा का एक ही अभिप्राय है और इसलिए वे दोनों एक ही ग्रन्थकार की कृतियाँ हैं और वे हैं स्वामी समन्तभद्र।" ( लेख—'क्या रत्नकरण्डश्रावकाचार स्वामी समन्तभद्र की कृति नहीं है?'/ 'अनेकान्त'/वर्ष ६/ किरण १२/जुलाई १९४४/पृ.३८४)।

कि "यथार्थतः वेदनीयकर्म अपनी फलदायिनी शक्ति में अन्य अघातिया कर्मों के समान सर्वथा स्वतन्त्र है" समुचित नहीं है। वस्तुतः अघातिया क्या, कोई भी कर्म अप्रतिहतरूप से अपनी स्थिति तथा अनुभागादि के अनुरूप फलदान-कार्य करने में सर्वथा स्वतन्त्र नहीं है। किसी भी कर्म के लिये अनेक कारणों की जरूरत पड़ती है और अनेक निमित्तों को पाकर कर्मों में संक्रमण-व्यतिक्रमणादि कार्य हुआ करता है, समय से पहले उनकी निर्जरा भी हो जाती है और तपश्चरणादि के बल पर उनकी शक्ति को बदला भी जा सकता है। अतः कर्मों को सर्वथा स्वतन्त्र कहना एकान्त है, मिथ्यात्व है और मुक्ति का भी निरोधक है।" (जै.सा.इ.वि.प्र./खं.१/पृ.४४५-४५८)।

"यहाँ 'धवला' पर से एक उपयोगी शङ्का-समाधान उद्धृत किया जाता है, जिससे केवली में क्षुधा-तृषा के अभाव का सकारण प्रदर्शन होने के साथ-साथ प्रोफेसर साहब की इस शङ्का का भी समाधान हो जाता है कि 'यदि केवली के सुख-दुःख की वेदना मानने पर उनके अनन्तसुख नहीं बन सकता, तो फिर कर्मसिद्धान्त में केवली के साता और असाता वेदनीय कर्म का उदय माना ही क्यों जाता[१०१] और वह इस प्रकार है—

**"सगसहाय-घादिकम्माभावेण णिस्सत्तितमावण्ण-असादावेदणीय-उदयादो भुक्खातिसाणमणुप्पत्तीए। णिप्फलस्स परमाणुपुंजस्स समयं पडि परिसदं (डं) तस्स कथमुदयववएसो? ण, जीवकम्मविवेगमेत्तफलं दट्ठूण उदयस्स फलत्तब्भुवगमादो।"** (वीरसेवामन्दिर-प्रति/पृ.३७५, आरा-प्रति/पृ.७४१)[१०२]

"**शङ्का**—अपने सहायक घातिया कर्मों का अभाव होने के कारण निःशक्ति को प्राप्त हुए असातावेदनीयकर्म के उदय से जब (केवली में) क्षुधा-तृषा की उत्पत्ति नहीं होती, तब प्रतिसमय नाश को प्राप्त होनेवाले (असातावेदनीय कर्म के) निष्फल परमाणुपुञ्ज का कैसे उदय कहा जाता है?

"**समाधान**—यह शङ्का ठीक नहीं, क्योंकि जीव और कर्म का विवेक-मात्र फल देखकर उदय के फलपना माना गया है।

"ऐसी हालत में प्रोफेसर साहब का वीतराग सर्वज्ञ के दुःख की वेदना के स्वीकार को कर्मसिद्धान्त के अनुकूल और अस्वीकार को प्रतिकूल अथवा असंगत बतलाना किसी तरह भी युक्तिसंगत नहीं ठहर सकता और इस तरह ग्रन्थसन्दर्भ के अन्तर्गत उक्त ९३वीं कारिका की दृष्टि से भी रत्नकरण्ड के उक्त छठे पद्य को विरुद्ध नहीं कहा जा सकता।" (जै.सा.इ.वि.प्र./खं.१/पृ.४४८)।

---

१०१. अनेकान्त/वर्ष ८/किरण २/पृ.८९।

१०२. धवला/ष.खं./पु.१२/४, २, ७, २६/ पृ. २४-२५।

(समन्तभद्र के दूसरे ग्रन्थों की छानबीन)

### ५. 'स्वदोषशान्त्या' आदि पद्यों में केवली के क्षुधादि दोषों की शान्ति का कथन

अब देखना यह है कि क्या समन्तभद्र के दूसरे किसी ग्रन्थ में ऐसी कोई बात पाई जाती है, जिससे रत्नकरण्ड के उक्त **'क्षुत्पिपासा'** पद्य का विरोध घटित होता हो अथवा जो आप्त-केवली या अर्हत्परमेष्ठी में क्षुधादि दोषों के सद्भाव को सूचित करती हो। जहाँ तक मैंने स्वयम्भूस्तोत्रादि दूसरे मान्य ग्रन्थों की छानबीन की है, मुझे उनमें कोई भी ऐसी बात उपलब्ध नहीं हुई, जो रत्नकरण्ड के उक्त छटे पद्य के विरुद्ध जाती हो अथवा किसी भी विषय में उसका विरोध उपस्थित करती हो। प्रत्युत इसके, ऐसी कितनी ही बातें देखने में आती हैं, जिनसे अर्हत्केवली में क्षुधादि-वेदनाओं अथवा दोषों के अभाव की सूचना मिलती है। यहाँ उनमें से दो-चार नमूने के तौर पर नीचे व्यक्त की जाती हैं—

"क—**'स्वदोष-शान्त्या विहितात्मशान्तिः'** इत्यादि शान्ति-जिन के स्तोत्र में यह बतलाया है कि शान्ति-जिनेन्द्र ने अपने दोषों की शान्ति करके आत्मा में शान्ति स्थापित की है और इसी से वे शरणागतों के लिये शान्ति के विधाता हैं। चूँकि क्षुधादिक भी दोष हैं और वे आत्मा में अशान्ति के कारण होते हैं—कहा भी है कि **"क्षुधासमा नास्ति शरीरवेदना,"** अतः आत्मा में शान्ति की पूर्णप्रतिष्ठा के लिये उनको भी शान्त किया गया है, तभी शान्तिजिन शान्ति के विधाता बने हैं और तभी संसारसम्बन्धी क्लेशों तथा भयों से शान्ति प्राप्त करने के लिये उनसे प्रार्थना की गई है। और यह ठीक ही है, जो स्वयं रागादिक दोषों अथवा क्षुधादि वेदनाओं से पीडित है, अशान्त है, वह दूसरों के लिये शान्ति का विधाता कैसे हो सकता है? नहीं हो सकता।

"ख—**'त्वं शुद्धिशक्त्योरुदयस्य काष्ठां तुलाव्यतीतां जिनशान्तिरूपामवापिथ'** इस **युक्त्यनुशासन** के वाक्य में वीरजिनेन्द्र को शुद्धि, शक्ति और शान्ति की पराकाष्ठा को पहुँचा हुआ बतलाया है, जो शान्ति की पराकाष्ठा (चरमसीमा) को पहुँचा हुआ हो, उसमें क्षुधादि वेदनाओं की सम्भावना नहीं बनती।

"ग—**'शर्म शाश्वतमवाप शङ्करः'** इस धर्म-जिन के स्तवन में यह बतलाया है कि धर्मनाम के अर्हत्परमेष्ठी ने शाश्वत सुख की प्राप्ति की है और इसी से वे शङ्कर (सुख के करनेवाले) हैं। शाश्वतसुख की अवस्था में एक क्षण के लिये भी क्षुधादि दुःखों का उद्भव सम्भव नहीं। इसी से श्री विद्यानन्दाचार्य ने **श्लोकवार्तिक** में लिखा है कि **'क्षुधादिवेदनोद्भूतौ नार्हतोऽनन्तशर्मता'** अर्थात् क्षुधादि वेदना की उद्भूति होने पर अर्हन्त के अनन्तसुख नहीं बनता।

Scanned with OKEN Scanner

"घ—'**त्वं शम्भवः सम्भवतर्षरोगैः सन्तप्यमानस्य जनस्य लोके**' इत्यादि स्तवन में शम्भव-जिन को सांसारिक तृषा-रोगों से प्रपीडित प्राणियों के लिये उन रोगों की शान्ति के अर्थ आकस्मिक वैद्य बतलाया है। इससे स्पष्ट है कि अर्हज्जिन स्वयं तृषा-रोगों से पीडित नहीं होते, तभी वे दूसरों के तृषा-रोगों को दूर करने में समर्थ होते हैं। इसी तरह '**इदं जगज्जन्म-जराऽन्तकार्तं निरञ्जनां शान्तिमजीगमस्त्वं**' इस वाक्य के द्वारा उन्हें जन्म-जरा मरण से पीडित जगत् को निरञ्जना शान्ति की प्राप्ति कराने वाला लिखा है, जिससे स्पष्ट है कि वे स्वयं जन्म-मरण से पीडित न होकर निरञ्जना शान्ति को प्राप्त थे। निरञ्जना शान्ति में क्षुधादि वेदनाओं के लिए अवकाश नहीं रहता।

"ङ—'**अनन्तदोषाशयविग्रहोग्रहो विषङ्गवान्मोहमयश्चिरं हृदि**' इत्यादि अनन्तजित् 'जिन' के स्तोत्र में जिस मोहपिशाच को पराजित करने का उल्लेख है, उसके शरीर को अनन्तदोषों का आधारभूत बताया है। इससे स्पष्ट है कि दोषों की संख्या कुछ इनी-गिनी ही नहीं है, बल्कि बहुत बढ़ी-चढ़ी है। अनन्तदोष तो मोहनीयकर्म के ही आश्रित रहते हैं। अधिकांश दोषों में मोह की पुट ही काम किया करती है। जिन्होंने मोहकर्म का नाश कर दिया है, उन्होंने अनन्तदोषों का नाश कर दिया है। उन दोषों में मोह के सहकार से होनेवाली क्षुधादि की वेदनाएँ भी शामिल हैं, इसी से मोहनीय का अभाव हो जाने पर वेदनीयकर्म को क्षुधादि वेदनाओं के उत्पन्न करने में असमर्थ बतलाया है।

"इस तरह मूल आप्तमीमांसा ग्रन्थ, उसके ९६वीं कारिका-सहित ग्रन्थसन्दर्भ, अष्टसहस्री आदि टीकाओं और ग्रन्थकार के दूसरे ग्रन्थों के उपर्युक्त विवेचन पर से यह भले प्रकार स्पष्ट है कि रत्नकरण्ड का उक्त क्षुत्पिपासादि पद्य स्वामी समन्तभद्र के किसी भी ग्रन्थ तथा उसके आशय के साथ कोई विरोध नहीं रखता अर्थात् उसमें दोष का क्षुत्पिपासादि के अभावरूप जो स्वरूप समझाया गया है, वह आप्तमीमांसा के ही नहीं, किन्तु आप्तमीमांसाकार की दूसरी भी किसी कृति के विरुद्ध नहीं है, बल्कि उन सबके साथ सङ्गत है। और इसलिये उक्त पद्य को लेकर आप्तमीमांसा और रत्नकरण्ड का भिन्नकर्तृत्व सिद्ध नहीं किया जा सकता। अतः इस विषय में प्रोफेसर साहब की प्रथम आपत्ति के लिये कोई स्थान नहीं रहता, वह किसी तरह भी समुचित प्रतीत नहीं होती।" (जै.सा.इ.वि.प्र./खं.१ पृ.४४९-४५१)।

## ६. पूर्व में रत्नकरण्ड का समन्तभद्रकर्तृत्व एवं प्राचीनता स्वीकृत

"अब मैं प्रो० हीरालाल जी की शेष तीनों आपत्तियों पर भी अपना विचार और निर्णय प्रकट कर देना चाहता हूँ, परन्तु उसे प्रकट कर देने के पूर्व यह बतला देना चाहता हूँ कि प्रो० साहब ने, अपनी प्रथम मूल आपत्ति को '**जैन इतिहास का**

**एक विलुप्त अध्याय'** नामक निबन्ध में प्रस्तुत करते हुए, यह प्रतिपादन किया था कि 'रत्नकरण्डश्रावकाचार कुन्दकुन्दाचार्य के उपदेशों के पश्चात् उन्हीं के समर्थन में लिखा गया है, और इसलिए इसके कर्त्ता वे समन्तभद्र हो सकते हैं, जिनका उल्लेख शिलालेख व पट्टावलियों में कुन्दकुन्द के पश्चात् पाया जाता है। कुन्दकुन्दाचार्य और उमास्वामी का समय वीरनिर्वाण से लगभग ६५० वर्ष पश्चात् (वि० सं० १८०) सिद्ध होता है। फलतः रत्नकरण्डश्रावकाचार और उसके कर्त्ता समन्तभद्र का समय विक्रम की दूसरी शताब्दी का अन्तिम भाग अथवा तीसरी शताब्दी का पूर्वार्ध होना चाहिये (यही समय जैन समाज में आमतौर पर माना भी जाता है)।' साथ ही, यह भी बतलाया था कि 'रत्नकरण्ड के कर्ता ये समन्तभद्र उन शिवकोटि के गुरु भी हो सकते हैं, जो रत्नमाला के कर्ता हैं।'[१०३] इस पिछली बात पर आपत्ति करते हुए पं० दरबारीलाल जी ने अनेक युक्तियों के आधार पर जब यह प्रदर्शित किया कि **रत्नमाला** एक आधुनिक ग्रन्थ है, रत्नकरण्डश्रावकाचार से शताब्दियों बाद की रचना है, विक्रम की ११वीं शताब्दी के पूर्व की तो वह हो नहीं सकती और न रत्नकरण्डश्रावकाचार के कर्ता समन्तभद्र के साक्षात् शिष्य की कृति हो सकती है,[१०४] तब प्रो० साहब ने उत्तर की धुन में कुछ कल्पित युक्तियों के आधार पर यह तो लिख दिया कि 'रत्नकरण्ड का समय विद्यानन्द के समय (ईसवी सन् ८१६ के लगभग) के पश्चात् और वादिराज के समय अर्थात् शक सं० ९४७ (ई० सन् १०२५) के पूर्व सिद्ध होता है। इस समयावधि के प्रकाश में रत्नकरण्डश्रावकाचार और रत्नमाला का रचनाकाल समीप आ जाते हैं और उनके बीच शताब्दियों का अन्तराल नहीं रहता।''[१०५] साथ ही आगे चलकर उसे तीन आपत्तियों का रूप भी दे दिया।[१०६] परन्तु इस बात को भुला दिया कि उनका यह सब प्रयत्न और कथन उनके पूर्वकथन एवं प्रतिपादन के विरुद्ध जाता है। उन्हें या तो अपने पूर्वकथन को वापिस ले लेना चाहिए था और या उसके विरुद्ध इस नये कथन का प्रयत्न तथा नई आपत्तियों का आयोजन नहीं करना चाहिये था। दोनों परस्पर विरुद्ध बातें एक साथ नहीं चल सकतीं।''

''अब यदि प्रोफेसर साहब अपने उस पूर्व कथन को वापिस लेते हैं, तो उनकी वह थियोरी (Theory) अथवा मत-मान्यता ही बिगड़ जाती है, जिसे लेकर वे **'जैन इतिहास का एक विलुप्त अध्याय'** लिखने में प्रवृत्त हुए हैं और यहाँ तक लिख गये हैं कि 'बोडिक-सङ्घ के संस्थापक शिवभूति, स्थविरावली में उल्लिखित आर्य

---

१०३. जैनइतिहास का एक विलुप्त अध्याय/पृ. १८,२०।
१०४. अनेकान्त/वर्ष ६/किरण १२/पृ. ३८०-३८२।
१०५. अनेकान्त/वर्ष ७/किरण ५-६/पृ. ५४।
१०६. अनेकान्त/वर्ष ८/किरण ३/पृ. १३२ तथा वर्ष ९/किरण १/पृ. ९-१०।

Scanned with OKEN Scanner

शिवभूति, भगवती-आराधना के कर्ता शिवार्य और उमास्वाति के गुरु के गुरु शिवश्री ये चारों एक ही व्यक्ति हैं। इसी तरह शिवभूति के शिष्य एवं उत्तराधिकारी भद्र, निर्युक्तियों के कर्ता भद्रबाहु, द्वादशवर्षीय दुर्भिक्ष की भविष्य-वाणी के कर्ता व दक्षिणापथ को विहार करनेवाले भद्रबाहु, कुन्दकुन्दाचार्य के गुरु भद्रबाहु, वनवासी सङ्घ के प्रस्थापक समन्तभद्र और आप्तमीमांसा के कर्ता सामन्तभद्र ये सब भी एक ही व्यक्ति हैं।'

"और यदि प्रोफेसर साहब अपने उस पूर्वकथन को वापिस न लेकर पिछली तीन युक्तियों को ही वापिस लेते हैं, तो फिर उन पर विचार की जरूरत ही नहीं रहती। प्रथम मूल आपत्ति ही विचार के योग्य रह जाती है और उस पर ऊपर विचार किया ही जा चुका है।

"यह भी हो सकता है कि प्रो० साहब के उक्त विलुप्त अध्याय के विरोध में जो दो लेख (१. **क्या निर्युक्तिकार भद्रबाहु और स्वामी समन्तभद्र एक हैं?**, २. **शिवभूति, शिवार्य और शिवकुमार**) वीरसेवामन्दिर के विद्वानों द्वारा लिखे जाकर **अनेकान्त** में प्रकाशित हुए हैं[१०७] और जिनमें विभिन्न आचार्यों के एकीकरण की मान्यता का युक्तिपुरस्सर खण्डन किया गया है तथा जिनका अभी तक कोई भी उत्तर साढ़े तीन वर्ष का समय बीत जाने पर भी प्रो० साहब की तरफ से प्रकाश में नहीं आया, उन पर से प्रो० साहब का विलुप्त अध्याय-सम्बन्धी अपना अधिकांश विचार ही बदल गया हो और इसी से वे भिन्न कथन द्वारा शेष तीन आपत्तियों को खड़ा करने में प्रवृत्त हुए हों। परन्तु कुछ भी हो, ऐसी अनिश्चित दशा में मुझे तो शेष तीनों आपत्तियों पर भी अपना विचार एवं निर्णय प्रकट कर देना ही चाहिए। तदनुसार ही उसे आगे प्रकट किया जाता है।" (जै.सा.इ.वि.प्र./खं.१/पृ.४५२-४५३)।

### ७. सर्वार्थसिद्धि में रत्नकरण्ड के शब्दार्थादि का अनुकरण

"II. रत्नकरण्ड और आप्तमीमांसा का भिन्नकर्तृत्व सिद्ध करने के लिये प्रो० साहब की जो दूसरी दलील (युक्ति) है वह यह है कि "रत्नकरण्ड का कोई उल्लेख शक संवत् ९४७ (वादिराज के पार्श्वनाथचरित के रचनाकाल) से पूर्व का उपलब्ध नहीं है तथा उसका आप्तमीमांसा के साथ एककर्तृत्व बतलानेवाला कोई भी सुप्राचीन उल्लेख नहीं पाया जाता।" यह दलील वास्तव में कोई दलील नहीं है, क्योंकि उल्लेखाऽनुपलब्धि का भिन्नकर्तृत्व के साथ कोई अविनाभावी सम्बन्ध नहीं है, उल्लेख के न मिलने पर भी दोनों का एक कर्ता होने में स्वरूप से कोई बाधा प्रतीत नहीं होती। इसके सिवाय, यह प्रश्न पैदा होता है कि रत्नकरण्ड का वह पूर्ववर्ती उल्लेख प्रो० सा० को उपलब्ध नहीं है या किसी को भी उपलब्ध नहीं है अथवा वर्तमान

१०७. अनेकान्त/वर्ष ६/किरण १०-११ और वर्ष ७/किरण १-२।

में कहीं उसका अस्तित्व ही नहीं और पहले भी उसका अस्तित्व नहीं था? यदि प्रो० साहब को वह उल्लेख उपलब्ध नहीं और किसी दूसरे को उपलब्ध हो, तो उसे अनुपलब्ध नहीं कहा जा सकता, भले ही वह उसके द्वारा अभी तक प्रकाश में न लाया गया हो। और यदि किसी के द्वारा प्रकाश में न लाये जाने के कारण ही उसे दूसरों के द्वारा भी अनुपलब्ध कहा जाय और वर्तमान साहित्य में उसका अस्तित्व हो, तो उसे सर्वथा अनुपलब्ध अथवा उस उल्लेख का अभाव नहीं कहा जा सकता। और वर्तमान साहित्य में उस उल्लेख के अस्तित्व का अभाव तभी कहा जा सकता है, जब सारे साहित्य का भले प्रकार अवलोकन करने पर वह उसमें न पाया जाता हो। सारे वर्तमान जैनसाहित्य का अवलोकन न तो प्रो० साहब ने किया है और न किसी दूसरे विद्वान् के द्वारा ही वह अभी तक हो पाया है। और जो साहित्य लुप्त हो चुका है, उसमें वैसा कोई उल्लेख नहीं था, इसे तो कोई भी दृढ़ता के साथ नहीं कह सकता। प्रत्युत इसके, वादिराज के सामने शक सं० ९४७ में जब रत्नकरण्ड खूब प्रसिद्धि को प्राप्त था और उससे कोई ३० या ३५ वर्ष बाद ही प्रभाचन्द्राचार्य ने उस पर संस्कृत टीका लिखी है और उसमें उसे साफ तौर पर स्वामी समन्तभद्र की कृति घोषित किया है, तब उसका पूर्व साहित्य में उल्लेख होना बहुत कुछ स्वाभाविक जान पड़ता है। वादिराज के सामने कितना ही जैनसाहित्य ऐसा उपस्थित था, जो आज हमारे सामने उपस्थित नहीं है और जिसका उल्लेख उनके ग्रन्थों में मिलता है। ऐसी हालत में पूर्ववर्ती उल्लेख का उपलब्ध न होना कोई खास महत्त्व नहीं रखता और न उसके उपलब्ध न होने मात्र से रत्नकरण्ड की रचना को वादिराज के सम-सामयिक ही कहा जा सकता है, जिसके कारण आप्तमीमांसा और रत्नकरण्ड के भिन्न-कर्तृत्व की कल्पना को बल मिलता। (जै.सा.इ.वि.प्र./खं.१/पृ. ४५३-४५४)।

"दूसरी बात यह है कि उल्लेख दो प्रकार का होता है–एक ग्रन्थनाम का और दूसरा ग्रन्थ के साहित्य तथा उसके किसी विषय-विशेष का। वादिराज से पूर्व का जो साहित्य अभी तक अपने को उपलब्ध है उसमें यदि ग्रन्थ का नाम 'रत्नकरण्ड' उपलब्ध नहीं होता तो उससे क्या? रत्नकरण्ड का पद-वाक्यादि के रूप में साहित्य और उसका विषयविशेष तो उपलब्ध हो रहा है, तब यह कैसे कहा जा सकता है कि रत्नकरण्ड का कोई उल्लेख उपलब्ध नहीं है? नहीं कहा जा सकता। आ० पूज्यपाद ने अपनी सर्वार्थसिद्धि में स्वामी समन्तभद्र के ग्रन्थों पर से उनके द्वारा प्रतिपादित अर्थ को कहीं शब्दानुसरण के, कहीं भावानुसरण के, कहीं उदाहरण के, कहीं पर्यायशब्दप्रयोग के और कहीं व्याख्यान-विवेचनादि के रूप में पूर्णतः अथवा अंशतः अपनाया है, ग्रहण किया है और जिसका प्रदर्शन मैंने '**सर्वार्थसिद्धि पर समन्तभ**

का प्रभाव' नामक अपने लेख में किया है।[१०८] उसमें आप्तमीमांसा, स्वयंभूस्तोत्र और युक्त्यनुशासन के अलावा रत्नकरण्डश्रावकाचार के भी कितने ही पद-वाक्यों को तुलना करके रक्खा गया है, जिन्हें सर्वार्थसिद्धिकार ने अपनाया है, और इस तरह जिनका सर्वार्थसिद्धि में उल्लेख पाया जाता है। अकलङ्कदेव के **तत्त्वार्थराजवार्तिक** और विद्यानन्द के **श्लोकवार्तिक** में भी ऐसे उल्लेखों की कमी नहीं है। उदाहरण के तौर पर तत्त्वार्थसूत्रगत ७वें अध्याय के '**दिग्देशाऽनर्थदण्ड**' नामक २१वें सूत्र से सम्बन्ध रखनेवाले '**भोगपरिसंख्यानं पञ्चविधं त्रसघात-प्रमाद-बहुवधाऽनिष्टाऽनुप-सेव्यविषयभेदात्**' इस उभय-वार्तिकगत वाक्य[१०८.१] और इसकी व्याख्याओं को रत्नकरण्ड के '**त्रसहतिपरिहरणार्थं**,' '**अल्पफलबहुविघातात्**,' '**यदनिष्टं तद् व्रतयेत्**' इन तीन पद्यों (नं० ८४, ८५, ८६) के साथ तुलना करके देखना चाहिए, जो इस विषय में अपनी खास विशेषता रखते हैं।" (जै.सा.इ.वि.प्र./खं.१/पृ.४५४-४५५)।

"परन्तु मेरे उक्त लेख पर से जब रत्नकरण्ड और सर्वार्थसिद्धि के कुछ तुलनात्मक अंश उदाहरण के तौर पर प्रो० साहब के सामने बतलाने के लिए रक्खे गये कि 'रत्नकरण्ड सर्वार्थसिद्धि के कर्ता पूज्यपाद से भी पूर्व की कृति है और इसलिये रत्नमाला के कर्ता शिवकोटि के गुरु उसके कर्ता नहीं हो सकते' तो उन्होंने उत्तर देते हुए लिख दिया कि "सर्वार्थसिद्धिकार ने उन्हें रत्नकरण्ड से नहीं लिया, किन्तु सम्भव है रत्नकरण्डकार ने ही अपनी रचना सर्वार्थसिद्धि के आधार से की हो।" साथ ही, रत्नकरण्ड के उपान्त्यपद्य '**येन स्वयं वीतकलङ्कविद्या,**' (१४९) को लेकर एक नई कल्पना भी कर डाली और उसके आधार पर यह घोषित कर दिया कि 'रत्नकरण्ड की रचना न केवल पूज्यपाद से पश्चात्कालीन है, किन्तु अकलङ्क और विद्यानन्द से भी पीछे की है।' और इसी को आगे चलकर चौथी आपत्ति का रूप दे दिया। यहाँ भी प्रोफेसर साहब ने इस बात को भुला दिया कि 'शिलालेखों के उल्लेखानुसार कुन्दकुन्दाचार्य के उत्तरवर्ती जिन समन्तभद्र को रत्नकरण्ड का कर्ता बतला आए हैं, उन्हें तो शिलालेखों में भी पूज्यपाद, अकलङ्क और विद्यानन्द का पूर्ववर्ती लिखा है, तब उनके रत्नकरण्ड की रचना अपने उत्तरवर्ती पूज्यपादादि के बाद की अथवा सर्वार्थसिद्धि के आधार पर की हुई कैसे हो सकती है?' अस्तु, इस विषय में विशेष विचार चौथी आपत्ति के विचाराऽवसर पर ही किया जायगा।" (जै.सा.इ. वि.प्र./खं.१/पृ. ४५५)।

**७वीं शती ई. के 'न्यायावतार' में 'रत्नकरण्ड' का पद्य**—"यहाँ पर मैं साहित्यिक उल्लेख का एक दूसरा स्पष्ट उदाहरण ऐसा उपस्थित कर देना चाहता

---

१०८. अनेकान्त/वर्ष ५/किरण १०-११/पृ.३४५-३५२।

१०८.१ तत्त्वार्थराजवार्तिकगत (७/२१/२७) एवं श्लोकवार्तिकगत वाक्य।

Scanned with OKEN Scanner

हूँ, जो ईसा की ७वीं शताब्दी के ग्रन्थ में पाया जाता है और वह है रत्नकरण्डश्रावकाचार के निम्न पद्य का **सिद्धसेन** के **न्यायावतार** में ज्यों का त्यों उद्धृत होना—

**आप्तोपज्ञमनुल्लंघ्यमदृष्टेष्ट-विरोधकम्।**
**तत्त्वोपदेशकृत्सार्वं शास्त्रं कापथघट्टनम्॥ ९॥**

"यह पद्य रत्नकरण्ड का एक बहुत ही आवश्यक अंग है और उसमें यथास्थान यथाक्रम मूलरूप से पाया जाता है। यदि इस पद्य को उक्त ग्रन्थ से अलग कर दिया जाय, तो उसके कथन का सिलसिला ही बिगड़ जाय। क्योंकि ग्रन्थ में, जिन आप्त, आगम (शास्त्र) और तपोभृत् (तपस्वी)के अष्ट अंगसहित और त्रिमूढतादिरहित श्रद्धान को सम्यग्दर्शन बतलाया गया है, उनका क्रमशः स्वरूप-निर्देश करते हुए, इस पद्य से पहले 'आप्त' का और इसके अनन्तर 'तपोभृत्' का स्वरूप दिया है, यह पद्य यहाँ दोनों के मध्य में अपने स्थान पर स्थित है, और अपने विषय का एक ही पद्य है। प्रत्युत इसके, न्यायावतार में, जहाँ भी यह नम्बर ९ पर स्थित है, इस पद्य की स्थिति मौलिकता की दृष्टि से बहुत ही सन्दिग्ध जान पड़ती है। यह उसका कोई आवश्यक अङ्ग मालूम नहीं होता और न इसको निकाल देने से वहाँ ग्रन्थ के सिलसिले में अथवा उसके प्रतिपाद्य विषय में ही कोई बाधा आती है। न्यायावतार में परोक्ष प्रमाण के **अनुमान** और **शाब्द** ऐसे दो भेदों का कथन करते हुए, **स्वार्थानुमान** का प्रतिपादन और समर्थन करने के बाद इस पद्य से ठीक पहले **शाब्द** प्रमाण के लक्षण का यह पद्य दिया हुआ है—

**दृष्टेष्टाव्याहताद्वाक्यात् परमार्थाभिधायिनः।**
**तत्त्वग्राहितयोत्पन्नं मानं शाब्दं प्रकीर्तितम्॥ ८॥**[१०९]

"इस पद्य की उपस्थिति में इसके बाद का उपर्युक्त पद्य, जिसमें शास्त्र (आगम) का लक्षण दिया हुआ है, कई कारणों से व्यर्थ पड़ता है। प्रथम तो उसमें शास्त्र का लक्षण आगम-प्रमाणरूप से नहीं दिया। यह नहीं बतलाया कि ऐसे शास्त्र से उत्पन्न हुआ ज्ञान[११०] आगमप्रमाण अथवा शब्दप्रमाण कहलाता है, बल्कि सामान्यतया आगमपदार्थ के रूप में निर्दिष्ट हुआ है, जिसे रत्नकरण्ड में सम्यग्दर्शन का विषय बतलाया गया है। दूसरे, शाब्दप्रमाण से शास्त्रप्रमाण कोई भिन्न वस्तु भी नहीं है, जिसकी शाब्दप्रमाण

---

१०९. सिद्धर्षि की टीका में इस पद्य से पहले यह प्रस्तावना-वाक्य दिया हुआ है—"तदेवं स्वार्थानुमानलक्षणं प्रतिपाद्य तद्वतां भ्रान्ततावित्रतिपत्तिं च निराकृत्य अधुना प्रतिपादित-परार्थानुमानलक्षणं एवाल्पवक्तव्यत्वात् तावच्छाब्दलक्षणमाह।"

११०. स्व-परावभासी निर्बाध ज्ञान को ही न्यायावतार के प्रथम पद्य में प्रमाण का लक्षण बतलाया है, इसलिये प्रमाण के प्रत्येक भेद में उसकी व्याप्ति होनी चाहिये।

Scanned with OKEN Scanner

के बाद पृथक् रूप से उल्लेख करने की जरूरत होती, बल्कि उसी में अन्तर्भूत है। टीकाकार ने भी, शब्द के **लौकिक** और **शास्त्रज** ऐसे दो भेदों की कल्पना करके, यह सूचित किया है कि इन दोनों का ही लक्षण इस आठवें पद्य में आ गया है।[१११] इससे ९वें पद्य में शब्द के 'शास्त्रज' भेद का उल्लेख नहीं, यह और भी स्पष्ट हो जाता है। तीसरे, ग्रन्थ भर में, इससे पहले, 'शास्त्र' या 'आगम' शब्द का कहीं प्रयोग नहीं हुआ, जिसके स्वरूप का प्रतिपादक ही यह ९वाँ पद्य समझ लिया जाता, और न 'शास्त्रज' नाम के भेद का ही मूलग्रन्थ में कोई निर्देश है, जिसके एक अवयव (शास्त्र) का लक्षण-प्रतिपादक यह पद्य हो सकता। चौथे, यदि यह कहा जाय कि ८वें पद्य में 'शाब्द' प्रमाण को जिस वाक्य से उत्पन्न हुआ बतलाया गया है, उसी का 'शास्त्र' नाम से अगले पद्य में स्वरूप दिया गया है, तो यह बात भी नहीं बनती, क्योंकि ८वें पद्य में ही **दृष्टेष्टाव्याहत** आदि विशेषणों के द्वारा वाक्य का स्वरूप दे दिया गया है और वह स्वरूप अगले पद्य में दिये हुए शास्त्र के स्वरूप से प्रायः मिलता-जुलता है। उसके **दृष्टेष्टाव्याहत** का **अदृष्टेष्टाविरोधक** के साथ साम्य है और उसमें **अनुल्लंघ्य** तथा **आप्तोपज्ञ** विशेषणों का भी समावेश हो सकता है, **परमार्थाभिधायि** विशेषण **कापथघट्टन** और **सार्व** विशेषणों के भाव का द्योतक है, और शाब्द-प्रमाण को **तत्त्वग्राहितयोत्पन्न** प्रतिपादन करने से यह स्पष्ट ध्वनित है कि वह वाक्य **तत्त्वोपदेशकृत्** माना गया है। इस तरह दोनों पद्यों में बहुत कुछ साम्य पाया जाता है। ऐसी हालत में समर्थन में उद्धरण के सिवाय ग्रन्थ-सन्दर्भ के साथ उसकी दूसरी कोई गति नहीं, उसका विषय पुनरुक्त ठहरता है। पाँचवें, ग्रन्थकार ने स्वयं अगले पद्य में वाक्य को उपचार से 'परार्थानुमान' बतलाया है। यथा—

**स्व-निश्चयवदन्येषां निश्चयोत्पादनं बुधैः।**
**परार्थं मानमाख्यातं वाक्यं तदुपचारतः॥ १०॥**

"इन सब बातों अथवा कारणों से यह स्पष्ट है कि न्यायावतार में '**आप्तोपज्ञ**' नाम के ९वें पद्य की स्थिति बहुत ही सन्दिग्ध है, वह मूल ग्रन्थ का पद्य मालूम नहीं होता। उसे मूलग्रन्थकार-विरचित ग्रन्थ का आवश्यक अङ्ग मानने से पूर्वोत्तर पद्यों के मध्य में उसकी स्थिति व्यर्थ पड़ जाती है, ग्रन्थ की प्रतिपादनशैली भी उसे स्वीकार नहीं करती, और इसलिये वह अवश्य ही वहाँ एक उद्धृत पद्य जान पड़ता है, जिसे 'वाक्य' के स्वरूप का समर्थन करने के लिये रत्नकरण्ड पर से '**उक्तञ्च**' आदि के रूप में उद्धृत किया गया है। उद्धरण का यह कार्य यदि मूलग्रन्थकार के द्वारा

---

१११. "शाब्दं च द्विधा भवति—लौकिकं शास्त्रजं चेति। तत्रेदं द्वयोरपि साधारणं लक्षणं प्रतिपादितम्।"

नहीं हुआ है, तो वह अधिक समय बाद का भी नहीं है, क्योंकि विक्रम की १०वीं शताब्दी के विद्वान् आचार्य सिद्धर्षि की टीका में यह मूलरूप से परिगृहीत है, जिससे यह मालूम होता है कि उन्हें अपने समय में न्यायावतार की जो प्रतियाँ उपलब्ध थीं, उनमें यह पद्य मूल का अङ्ग बना हुआ था। और जब तक सिद्धर्षि से पूर्व की किसी प्राचीन प्रति में उक्त पद्य अनुपलब्ध न हो, तब तक प्रो० साहब तो अपनी विचार-पद्धति[११२] के अनुसार यह कह ही नहीं सकते कि वह ग्रन्थ का अङ्ग नहीं, ग्रन्थकार के द्वारा योजित नहीं हुआ अथवा ग्रन्थकार से कुछ अधिक समय बाद उसमें प्रविष्ट या प्रक्षिप्त हुआ है। चुनाँचे प्रो० साहब ने वैसा कुछ कहा भी नहीं और न उस पद्य के न्यायावतार में उद्धृत होने की बात का स्पष्ट शब्दों में कोई युक्तिपुरस्सर विरोध ही प्रस्तुत किया है, वे उस पर एकदम मौन हो रहे हैं।'' (जै.सा.इ.वि.प्र./खं.१/पृ.४५६-४५९)।

अतः ऐसे प्रबल साहित्यिक उल्लेखों की मौजूदगी में रत्नकरण्ड को विक्रम की ११वीं शताब्दी की रचना अथवा रत्नमालाकार के गुरु की कृति नहीं बतलाया जा सकता और न इस कल्पित समय के आधार पर उसका आप्तमीमांसा से भिन्नकर्तृत्व ही प्रतिपादित किया जा सकता है। यदि प्रो० साहब साहित्य के उल्लेखादि को कोई महत्त्व न देकर ग्रन्थ के नामोल्लेख को ही उसका उल्लेख समझते हों, तो वे आप्तमीमांसा को कुन्दकुन्दाचार्य से पूर्व की तो क्या, अकलङ्क के समय से पूर्व की अथवा कुछ अधिक पूर्व की भी नहीं कह सकेंगे, क्योंकि अकलङ्क से पूर्व के साहित्य में उसका नामोल्लेख नहीं मिल रहा है। ऐसी हालत में प्रो० साहब की दूसरी आपत्ति का कोई महत्त्व नहीं रहता, वह भी समुचित नहीं कही जा सकती और न उसके द्वारा उनका अभिमत ही सिद्ध किया जा सकता है।

''III. रत्नकरण्ड और आप्तमीमांसा का भिन्नकर्तृत्व सिद्ध करने के लिये प्रोफेसर हीरालाल जी की जो तीसरी दलील (युक्ति) है, उसका सार यह है कि 'वादिराजसूरि के पार्श्वनाथचरित में **आप्तमीमांसा** को तो 'देवागम' नाम से उल्लेख करते हुए **स्वामि-कृत** कहा गया है और **रत्नकरण्ड** को स्वामिकृत न कहकर **योगीन्द्रकृत** बतलाया है। 'स्वामी' का अभिप्राय स्वामी समन्तभद्र से और 'योगीन्द्र' का अभिप्राय उस नाम

---

११२. प्रो० साहब की इस विचारपद्धति का दर्शन उस पत्र पर से भले प्रकार हो सकता है, जिसे उन्होंने मेरे उस पत्र के उत्तर में लिखा था, जिसमें उनसे रत्नकरण्ड के उन सात पद्यों की बावत सयुक्तिक राय माँगी गई थी, जिन्हें मैंने रत्नकरण्ड की प्रस्तावना में सन्दिग्ध करार दिया था और जिस पत्र को उन्होंने मेरे पत्र-सहित अपने पिछले लेख (अनेकान्त/वर्ष ९/किरण १/पृ. १२) में प्रकाशित किया है।

Scanned with OKEN Scanner

के किसी आचार्य से अथवा आप्तमीमांसाकार से भिन्न किसी दूसरे समन्तभद्र से है। दोनों ग्रन्थों के कर्ता एक ही समन्तभद्र नहीं हो सकते अथवा यों कहिये कि वादिराज-सम्मत नहीं हो सकते, क्योंकि दोनों ग्रन्थों के उल्लेख-सम्बन्धी दोनों पद्यों के मध्य में '**अचिन्त्यमहिमा देवः**' नाम का एक पद्य पड़ा हुआ है, जिसके **देव** शब्द का अभिप्राय देवनन्दी पूज्यपाद से है और जो उनके शब्दशास्त्र (जैनेन्द्र) की सूचना को साथ में लिए हुए है।' जिन पद्यों पर से इस युक्तिवाद अथवा रत्नकरण्ड और आप्त-मीमांसा के एककर्तृत्व पर आपत्ति का जन्म हुआ है, वे इस प्रकार हैं—

**स्वामिनश्चरितं तस्य कस्य नो विस्मयावहम्।**
**देवागमेन सर्वज्ञो येनाऽद्यापि प्रदर्श्यते॥ १७॥**

**अचिन्त्यमहिमा देवः सोऽभिवन्द्यो हितैषिणा।**
**शब्दाश्च येन सिद्ध्यन्ति साधुत्वं प्रतिलम्भिताः॥ १८॥**

**त्यागी स एव योगीन्द्रो येनाऽक्षय्यसुखावहः।**
**अर्थिने भव्यसार्थाय दिष्टो रत्नकरण्डकः॥ १९॥**

"इन पद्यों में से जिन प्रथम और तृतीय पद्यों में ग्रन्थों का नामोल्लेख है, उनका विषय स्पष्ट है और जिसमें किसी ग्रन्थ का नामोल्लेख नहीं है, उस द्वितीय पद्य का विषय अस्पष्ट है, इस बात को प्रोफेसर साहब ने स्वयं स्वीकार किया है। और इसीलिए द्वितीय पद्य के आशय तथा अर्थ के विषय में विवाद है। एक उसे स्वामी समन्तभद्र के साथ सम्बन्धित करते हैं, तो दूसरे देवनन्दी पूज्यपाद के साथ। यह पद्य यदि क्रम में तीसरा हो और तीसरा दूसरे के स्थान पर हो, और ऐसा होना लेखकों की कृपा से कुछ भी असम्भव या अस्वाभाविक नहीं है, तो फिर विवाद के लिये कोई स्थान ही नहीं रहता, तब देवागम (आप्तमीमांसा) और रत्नकरण्ड दोनों निर्विवादरूप से प्रचलित मान्यता के अनुरूप स्वामी समन्तभद्र के साथ सम्बन्धित हो जाते हैं और शेष पद्य का सम्बन्ध देवनन्दी पूज्यपाद और उनके शब्दशास्त्र से लगाया जा सकता है। चूँकि उक्त पार्श्वनाथचरित-सम्बन्धी प्राचीन प्रतियों की खोज अभी तक नहीं हो पाई है, जिससे पद्यों की क्रमभिन्नता का पता चलता और जिसकी कितनी ही सम्भावना जान पड़ती है, अतः उपलब्ध क्रम को लेकर ही इन पद्यों के प्रतिपाद्य विषय अथवा फलितार्थ पर विचार किया जाता है—

"पद्यों के उपलब्ध क्रम पर से दो बातें फलित होती हैं—एक तो यह कि तीनों पद्य स्वामी समन्तभद्र की स्तुति को लिये हुए हैं और उनमें उनकी तीन कृतियों का उल्लेख है, और दूसरी यह कि तीनों पद्यों में क्रमशः तीन आचार्यों और उनकी तीन कृतियों का उल्लेख है। इन दोनों में से कोई एक बात ही ग्रन्थकार के द्वारा

Scanned with OKEN Scanner

अभिमत और प्रतिपादित हो सकती है, दोनों नहीं। वह एक बात कौन-सी हो सकती है, यही यहाँ पर विचारणीय है। तीसरे पद्य में उल्लिखित 'रत्नकरण्डक' यदि वह रत्नकरण्ड या रत्नकरण्डश्रावकाचार नहीं है, जो स्वामी समन्तभद्र की कृतिरूप से प्रसिद्ध और प्रचलित है, बल्कि 'योगीन्द्र' नाम के आचार्य-द्वारा रचा हुआ उसी नाम का कोई दूसरा ही ग्रन्थ है, तब तो यह कहा जा सकता है कि तीनों पद्यों में तीन आचार्य और उनकी कृतियों का उल्लेख है, भले ही वह दूसरा रत्नकरण्ड कहीं पर उपलब्ध न हो अथवा उसके अस्तित्व को प्रमाणित न किया जा सके। और तब इन पद्यों को लेकर जो विवाद खड़ा किया गया है, वही स्थिर नहीं रहता, समाप्त हो जाता है अथवा यों कहिये कि प्रोफेसर साहब की तीसरी आपत्ति निराधार होकर बेकार हो जाती है। परन्तु प्रो० साहब को दूसरा रत्नकरण्ड इष्ट नहीं, तभी उन्होंने प्रचलित रत्नकरण्ड के ही छठे पद्य '**क्षुत्पिपासा**' को आप्तमीमांसा के विरोध में उपस्थित किया था, जिसका ऊपर परिहार किया जा चुका है। और इसलिये तीसरे पद्य में उल्लिखित 'रत्नकरण्डक' यदि प्रचलित रत्नकरण्डश्रावकाचार ही है, तो तीनों पद्यों को स्वामी समन्तभद्र के साथ ही सम्बन्धित कहना होगा, जब तक कि कोई स्पष्ट बाधा इसके विरोध में उपस्थित न की जाय। इसके सिवाय, दूसरी कोई गति नहीं, क्योंकि प्रचलित रत्नकरण्ड को आप्तमीमांसाकार स्वामी समन्तभद्रकृत मानने में कोई बाधा नहीं है, जो बाधा उपस्थित की गई थी, उसका ऊपर दो आपत्तियों का विचार करते हुए भले प्रकार निरसन किया जा चुका है और यह तीसरी आपत्ति अपने स्वरूप में ही स्थिर न होकर असिद्ध तथा संदिग्ध बनी हुई है, और इसलिये प्रो० साहब के अभिमत को सिद्ध करने में असमर्थ है। जब आदि-अन्त के दोनों पद्य स्वामी समन्तभद्र से सम्बन्धित हों, तब मध्य के पद्य को दूसरे के साथ सम्बद्ध नहीं किया जा सकता। उदाहरण के तौर पर कल्पना कीजिये कि रत्नकरण्ड के उल्लेखवाले तीसरे पद्य के स्थान पर स्वामी समन्तभद्र-प्रणीत स्वयंभूस्तोत्र के उल्लेख को लिये हुए निम्न प्रकार के आशय का कोई पद्य है—

**स्वयम्भूस्तुतिकर्तारं भस्मव्याधिविनाशनम्।**
**विराग-द्वेष-वादादिमनेकान्त-मतं नुमः॥**

"ऐसे पद्य की मौजूदगी में क्या द्वितीय पद्य में उल्लिखित देव शब्द को देवनन्दी पूज्यपाद का वाचक कहा जा सकता है? यदि नहीं कहा जा सकता, तो रत्नकरण्ड के उल्लेख वाले पद्य की मौजूदगी में भी उसे देवनन्दी पूज्यपाद का वाचक नहीं कहा जा सकता, उस वक्त तक, जब तक कि यह सिद्ध न कर दिया जाय कि रत्नकरण्ड स्वामी समन्तभद्र की कृति नहीं है। क्योंकि असिद्ध साधनों के द्वारा कोई भी बात सिद्ध नहीं की जा सकती।

Scanned with OKEN Scanner

"इन्हीं सब बातों को ध्यान में रखते हुए, आज से कोई २३ वर्ष पहले रत्नकरण्डश्रावकाचार की प्रस्तावना के साथ में दिये हुए स्वामी समन्तभद्र के विस्तृत परिचय (इतिहास) में, जब मैंने '**स्वामिनश्चरितं तस्य**' और '**त्यागी स एव योगीन्द्रो**' इन दो पद्यों को पार्श्वनाथचरित से एक साथ उद्धृत किया था, तब मैंने फुटनोट (पादटिप्पणी) में यह बतला दिया था कि इनके मध्य में '**अचिन्त्यमहिमा देवः**' नाम का एक तीसरा पद्य मुद्रित प्रति में और पाया जाता है, जो मेरी राय में इन दोनों पद्यों के बाद होना चाहिये, तभी वह देवनन्दी आचार्य का वाचक हो सकता है। साथ ही, यह भी प्रकट कर दिया था कि "यदि यह तीसरा पद्य सचमुच ही ग्रन्थ की प्राचीन प्रतियों में इन दोनों पद्यों के मध्य में ही पाया जाता है और मध्य का ही पद्य है, तो यह कहना पड़ेगा कि वादिराज ने समन्तभद्र को अपना हित चाहनेवालों के द्वारा वन्दनीय और अचिन्त्य महिमावाला देव प्रतिपादित किया है, साथ ही, यह लिखकर कि उनके द्वारा शब्द भले प्रकार सिद्ध होते हैं, उनके किसी व्याकरण ग्रन्थ का उल्लेख किया है।" अपनी इस दृष्टि और राय के अनुरूप ही मैं '**अचिन्त्यमहिमा देवः**' पद्य को प्रधानतः **देवागम** और **रत्नकरण्ड** के उल्लेखवाले पद्यों का उत्तरवर्ती तीसरा पद्य मानता आ रहा हूँ और तदनुसार ही उसके 'देव' पद का देवनन्दी अर्थ करने में प्रवृत्त हुआ हूँ। अतः इन तीनों पद्यों के क्रमविषय में मेरी दृष्टि और मान्यता को छोड़कर किसी को भी मेरे उस अर्थ का दुरुपयोग नहीं करना चाहिए, जो समाधितन्त्र की प्रस्तावना तथा 'सत्साधु-स्मरण-मङ्गलपाठ' में दिया हुआ है,[११३] क्योंकि मुद्रित प्रति का पद्यक्रम ही ठीक होने पर मैं उस पद्य के **देव** पद को समन्तभद्र का ही वाचक मानता हूँ और इस तरह तीनों पद्यों को समन्तभद्र के स्तुति-विषयक समझता हूँ। अस्तु।" (जै.सा.इ.वि.प्र./खं./पृ. ४५९-४६२)।

"अब देखना यह है कि क्या उक्त तीनों पद्यों को स्वामी समन्तभद्र के साथ सम्बन्धित करने अथवा रत्नकरण्ड को स्वामी समन्तभद्र की कृति बतलाने में कोई दूसरी बाधा आती है? जहाँ तक मैंने इस विषय पर गंभीरता के साथ विचार किया है, मुझे उसमें कोई बाधा प्रतीत नहीं होती। तीनों पद्यों में क्रमशः तीन विशेषणों **स्वामी**, **देव** और **योगीन्द्र** के द्वारा समन्तभद्र का स्मरण किया गया है। उक्त क्रम से रक्खे हुए तीनों पद्यों का अर्थ निम्न प्रकार है—

"उन स्वामी (समन्तभद्र) का चरित्र किसके लिये विस्मयकारक (आश्चर्यजनक) नहीं है, जिन्होंने 'देवागम' (आप्तमीमांसा) नाम के अपने प्रवचन द्वारा आज भी सर्वज्ञ

---

११३. प्रो० साहब ने अपने मत की पुष्टि में उसे पेश करके सचमुच ही उसका दुरुपयोग किया है।

को प्रदर्शित कर रक्खा है। वे अचिन्त्यमहिमा-युक्त देव (समन्तभद्र) अपना हित चाहनेवालों के द्वारा सदा वन्दनीय हैं, जिनके द्वारा (सर्वज्ञ ही नहीं, किन्तु) शब्द भी[११४] भले प्रकार सिद्ध होते हैं। वे ही योगीन्द्र (समन्तभद्र) सच्चे अर्थों में त्यागी (त्यागभाव से युक्त अथवा दाता) हुए हैं, जिन्होंने सुखार्थी भव्यसमूह के लिए अक्षयसुख का कारणभूत धर्मरत्नों का पिटारा—'रत्नकरण्ड' नाम का धर्मशास्त्र दान किया है।

"इस अर्थ पर से स्पष्ट है कि दूसरे तथा तीसरे पद्य में ऐसी कोई बात नहीं, जो स्वामी समन्तभद्र के साथ सङ्गत न बैठती हो। समन्तभद्र के लिए **देव** विशेषण का प्रयोग कोई अनोखी अथवा उनके पद से कोई अधिक चीज नहीं है। देवागम की वसुनन्दिवृति, पण्डित आशाधर की सागारधर्मामृत टीका, आचार्य जयसेन की समयसारटीका, नरेन्द्रसेन आचार्य के सिद्धान्तसार-संग्रह और आप्तमीमांसामूल की एक वि० संवत् १७५२ की प्रति की अन्तिम पुष्पिका में समन्तभद्र के साथ **देव** पद का खुला प्रयोग पाया जाता है, जिन सब के अवतरण पं० दरबारीलाल जी कोठिया के लेख में उद्धृत हो चुके हैं।[११५] इसके सिवाय वादिराज के पार्श्वनाथचरित से ४७ वर्ष पूर्व शक सं० ९०० में लिखे गये चामुण्डराय के **त्रिषष्टिशलाका-महापुराण** में भी **देव** उपपद के साथ समन्तभद्र का स्मरण किया गया है और उन्हें तत्त्वार्थभाष्यादि का कर्ता लिखा है।[११६] ऐसी हालत में प्रो० साहब का समन्तभद्र के साथ **देव** पद की असङ्गति की कल्पना करना ठीक नहीं है, वे साहित्यिकों में **देव** विशेषण के साथ भी प्रसिद्धि को प्राप्त रहे हैं।" (जै.सा.इ.वि.प्र./खं.१/पृ.४६२-४६४)।

"और अब प्रो० साहब का अपने अन्तिम लेख में यह लिखना तो कुछ भी अर्थ नहीं रखता कि "जो उल्लेख प्रस्तुत किये गये हैं, उन सब में **देव** पद समन्तभद्र के साथ-साथ पाया जाता है। ऐसा कोई एक भी उल्लेख नहीं, जहाँ केवल देव शब्द से समन्तभद्र का अभिप्राय प्रकट किया गया हो।" यह वास्तव में कोई उत्तर नहीं, इसे केवल उत्तर के लिये ही उत्तर कहा जा सकता है, क्योंकि जब कोई विशेषण किसी के साथ जुड़ा होता है, तभी तो वह किसी प्रसंग पर संकेतादि के रूप में अलग से भी कहा जा सकता है, जो विशेषण कभी साथ में जुड़ा ही न हो, वह न तो अलग से कहा जा सकता है और न उसका वाचक ही हो सकता है। प्रो० साहब ऐसा कोई भी उल्लेख प्रस्तुत नहीं कर सकेंगे, जिसमें समन्तभद्र के साथ स्वामी पद जुड़ने से पहले उन्हें केवल 'स्वामी' पद के द्वारा उल्लेखित किया गया हो।

---

११४. मूल में प्रयुक्त हुए 'च' शब्द का अर्थ।

११५. अनेकान्त/वर्ष ८/किरण १०-११/पृ. ४१०-४११।

११६. अनेकान्त/वर्ष ९/किरण १/पृ. ३३।

Scanned with OKEN Scanner

अतः मूल बात समन्तभद्र के साथ **देव** विशेषण का पाया जाना है, जिसके उल्लेख प्रस्तुत किये गये हैं और जिनके आधार पर द्वितीय पद्य में प्रयुक्त हुए **देव** विशेषण अथवा उपपद को समन्तभद्र के साथ संगत कहा जा सकता है। प्रो० साहब वादिराज के इसी उल्लेख को वैसा एक उल्लेख समझ सकते हैं, जिसमें 'देव' शब्द से समन्तभद्र का अभिप्राय प्रगट किया गया है, क्योंकि वादिराज के सामने अनेक प्राचीन उल्लेखों के रूप में समन्तभद्र को भी 'देव' पद के द्वारा उल्लिखित करने के कारण मौजूद थे। इसके सिवाय, प्रो० साहब ने श्लेषार्थ को लिये हुए जो एक पद्य '**देवं स्वामिनममलं विद्यानन्दं प्रणम्य निजभक्त्या**' इत्यादि उदाहरण के रूप में प्रस्तुत किया है, उसका अर्थ जब स्वामी समन्तभद्रपरक किया जाता है, तब 'देव' पद स्वामी समन्तभद्र का, अकलङ्कपरक अर्थ करने से अकलंक का और विद्यानन्दपरक अर्थ करने से विद्यानन्द का ही वाचक होता है। इससे समन्तभद्र नाम साथ में न रहते हुए भी समन्तभद्र के लिये 'देव' पद का अलग से प्रयोग अघटित नहीं है, यह प्रो० साहब द्वारा प्रस्तुत किये गये पद्य से भी जाना जाता है।" (जै.सा.इ.वि.प्र./ खं.१/ पृ. ४६४)।

"यह भी नहीं कहा जा सकता कि वादिराज 'देव' शब्द को एकान्ततः 'देवनन्दी' का वाचक समझते थे और वैसा समझने के कारण ही उन्होंने उक्त पद्य में देवनन्दी के लिये उसका प्रयोग किया है, क्योंकि वादिराज ने अपने **न्याय-विनिश्चय-विवरण** में अकलंक के लिये 'देव' पद का बहुत प्रयोग किया है,[११७] इतना ही नहीं बल्कि **पार्श्वनाथचरित** में भी वे '**तर्कभूवल्लभो देवः स जयत्यकलंकधीः**' इस वाक्य में प्रयुक्त हुए **देव** पद के द्वारा अकलंक का उल्लेख कर रहे हैं। और जब अकलंक के लिये वे 'देव' पद का उल्लेख कर रहे हैं, तब अकलंक से भी बड़े और उनके भी पूज्यगुरु **समन्तभद्र** के लिये **देव** पद का प्रयोग करना कुछ भी अस्वाभाविक अथवा अनहोनी बात नहीं है। इसके सिवाय, उन्होंने न्यायविनिश्चय-विवरण के अन्तिम भाग में पूज्यपाद का देवनन्दी नाम से उल्लेख न करके पूज्यपाद नाम से ही उल्लेख किया है,[११८] जिससे मालूम होता है कि यही नाम उनको अधिक इष्ट था।

"ऐसी स्थिति में यदि वादिराज का अपने द्वितीय पद्य से देवनन्दि-विषयक अभिप्राय होता, तो वे या तो पूरा देवनन्दी नाम देते या उनके **जैनेन्द्र व्याकरण** का

---

११७. जैसा कि नीचे के उदाहरणों से प्रकट है–
"देवस्तार्किकचक्रचूडामणिर्भूयात्स वः श्रेयसे।" पृ. ३।
"भूयो भेदनयावगाहगहनं देवस्य यद्वाङ्मयम्।"
"तथा च देवस्यान्यत्र वचनं "व्यवसायात्मकं ज्ञानं प्रत्यक्षं स्वत एव नः।" प्रस्ताव १।
"देवस्य शासनमतीवगभीरमेतत्तात्पर्यतः क इव बोद्धुमतीव दक्षः।" प्रस्ताव २।

११८. "विद्यानन्दमनन्तवीर्यसुखदं श्रीपूज्यपादं दयापालं सन्मतिसागरं---वन्दे जिनेन्द्रं मुदा।"

Scanned with OKEN Scanner

साथ में स्पष्ट नामोल्लेख करते अथवा इस पद्य को रत्नकरण्ड के उल्लेखवाले पद्य के बाद में रखते, जिससे समन्तभद्र का स्मरणविषयक प्रकरण समाप्त होकर दूसरे प्रकरण का प्रारम्भ समझा जाता। जब ऐसा कुछ भी नहीं है, तब यही कहना ठीक होगा कि इस पद्य में 'देव' विशेषण के द्वारा समन्तभद्र का ही उल्लेख किया गया है। उनका अचिन्त्य महिमा से युक्त होना और उनके द्वारा शब्दों का सिद्ध होना भी कोई असंगत नहीं है। वे पूज्यपाद से भी अधिक महान् थे, अकलंक और विद्यानन्दादिक बड़े-बड़े आचार्यों ने उनकी महानता का खुला गान किया है, उन्हें सर्वपदार्थतत्त्वविषयक स्याद्वाद-तीर्थ को कलिकाल में भी प्रभावित करनेवाला, और वीरशासन की हजारगुणी वृद्धि करनेवाला, **जैनशासन का प्रणेता** तक लिखा है। उनके असाधारण गुणों के कीर्तनों और महिमाओं के वर्णनों से जैनसाहित्य भरा हुआ है, जिसका कुछ परिचय पाठक **सत्साधुस्मरण-मंगलपाठ** में दिये हुए समन्तभद्र के स्मरणों पर से सहज में ही प्राप्त कर सकते हैं। समन्तभद्र के एक परिचय-पद्य से मालूम होता है कि वे **सिद्धसारस्वत**[११९] थे, सरस्वती उन्हें सिद्ध थी, **वादीभसिंह** जैसे आचार्य उन्हें **सरस्वती की स्वच्छन्द-विहारभूमि** बतलाते हैं और एक दूसरे ग्रन्थकार समन्तभद्र-द्वारा रचे हुए ग्रन्थसमूहरूपी निर्मलकमलसरोवर में, जो भावरूप हंसों से परिपूर्ण है, सरस्वती को क्रीडा करती हुई उल्लेखित करते हैं।[१२०] इससे समन्तभद्र के द्वारा शब्दों का सिद्ध होना कोई अनोखी बात नहीं कही जा सकती। उनका **जिनशतक** उनके अपूर्व व्याकरणपाण्डित्य और शब्दों के एकाधिपत्य को सूचित करता है। पूज्यपाद ने तो अपने जैनेन्द्रव्याकरण में '**चतुष्टयं समन्तभद्रस्य**' यह सूत्र (५, ४, १४०) रखकर समन्तभद्र-द्वारा होनेवाली शब्दसिद्धि को स्पष्ट सूचित भी किया है, जिस पर से उनके व्याकरणशास्त्र की भी सूचना मिलती है। और श्री प्रभाचन्दाचार्य ने अपने गद्यकथाकोश में उन्हें तर्कशास्त्र की तरह व्याकरणशास्त्र का भी व्याख्याता (निर्माता)[१२१] लिखा है।[१२२] इतने पर भी प्रो० साहब का अपने पिछले लेख में यह लिखना कि "उनका बनाया हुआ न तो कोई शब्दशास्त्र उपलब्ध है और न उसके कोई प्राचीन प्रामाणिक उल्लेख पाये जाते हैं" व्यर्थ की खींचतान के सिवाय और कुछ भी अर्थ नहीं रखता। यदि आज कोई ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है, तो उसका यह आशय तो नहीं लिया जा सकता

---

११९. अनेकान्त/वर्ष ७/किरण ३-४/ पृ. २६।

१२०. सत्साधुस्मरणमंगलपाठ/पृ. ३४, ४९।

१२१. अनेकान्त/वर्ष ८/किरण १०-११/पृ. ४१९।

१२२. 'जैनग्रन्थावली' में रायल एशियाटिक सोसाइटी की रिपोर्ट के आधार पर समन्तभद्र के एक प्राकृतव्याकरण का नामोल्लेख है और उसे १२०० श्लोकपरिमाण सूचित किया है।

Scanned with OKEN Scanner

कि वह कभी था ही नहीं। वादिराज के ही द्वारा **पार्श्वनाथचरित** में उल्लिखित **सन्मतिसूत्र** की वह विवृति और विशेषवादी की वह कृति आज कहाँ मिल रही हैं? यदि उनके न मिलने मात्र से वादिराज के उल्लेख-विषय में अन्यथा कल्पना नहीं की जा सकती, तो फिर समन्तभद्र के शब्दशास्त्र के उपलब्ध न होने मात्र से ही वैसी कल्पना क्यों की जाती है? उसमें कुछ भी औचित्य मालूम नहीं होता। अतः वादिराज के उक्त द्वितीय पद्य नं० १८ का यथावस्थित क्रम की दृष्टि से समन्तभद्र-विषयक अर्थ लेने में किसी भी बाधा के लिये कोई स्थान नहीं है।'' (जै.सा.इ.वि.प्र./ खं.१/ पृ. ४६४-४६७)।

''रही तीसरे पद्य की बात, उसमें **योगीन्द्रः** पद को लेकर जो वाद-विवाद अथवा झमेला खड़ा किया गया है, उसमें कुछ भी सार नहीं है। कोई भी बुद्धिमान् ऐसा नहीं हो सकता, जो समन्तभद्र को योगी अथवा योगीन्द्र मानने के लिये तैयार न हो, खासकर उस हालत में जब कि वे धर्माचार्य थे, सम्यग्दर्शन, ज्ञान, चारित्र, तप और वीर्यरूप पञ्च आचारों का स्वयं आचार करनेवाले और दूसरों को आचारण करानेवाले दीक्षागुरु के रूप में थे, 'पदर्द्धिक' थे, तप के बल पर चारणऋद्धि को प्राप्त थे और उन्होंने अपने मंत्ररूप बचनबल से शिवपिण्डी में चन्द्रप्रभ की प्रतिमा को बुला लिया था (**'स्वमन्त्रवचन-व्याहूतचन्द्रप्रभः'**)। योगसाधना जैनमुनि का पहला कार्य होता है और इसलिये जैनमुनि को 'योगी' कहना एक सामान्य-सी बात है, फिर धर्माचार्य अथवा दीक्षागुरु मुनीन्द्र का तो योगी अथवा योगीन्द्र होना और भी अवश्यंभावी तथा अनिवार्य हो जाता है। इसी से जिस वीरशासन के स्वामी समन्तभद्र अनन्य उपासक थे, उसका स्वरूप बतलाते हुए, युक्त्यनुशासन (का० ६) में उन्होंने दया, दम और त्याग के साथ समाधि (योगसाधना) को भी उसका प्रधान अंग बतलाया है। तब यह कैसे हो सकता है कि वीरशासन के अनन्य उपासक भी योग-साधना न करते हों और इसलिये योगी न कहे जाते हों?

''सबसे पहले सुहृद्वर पं० नाथूराम जी प्रेमी ने इस योगीन्द्रविषयक चर्चा को **'क्या रत्नकरण्ड के कर्ता स्वामी समन्तभद्र ही हैं?'** इस शीर्षक के अपने लेख में उठाया था और यहाँ तक लिख दिया था कि ''योगीन्द्र जैसा विशेषण तो उन्हें (समन्तभद्र को) कहीं भी नहीं दिया गया।''[१२३] इसके उत्तर में जब मैंने **'स्वामी समन्तभद्र धर्मशास्त्री, तार्किक और योगी तीनों थे'** इस शीर्षक का लेख[१२४] लिखा और उसमें अनेक प्रमाणों के आधार पर यह स्पष्ट किया गया कि समन्तभद्र योगीन्द्र थे तथा

---

१२३. अनेकान्त/वर्ष ७/किरण ३-४/पृ. २९, ३०।

१२४. अनेकान्त/वर्ष ७/किरण ५-६/पृ. ४२, ४८।

Scanned with OKEN Scanner

**योगी** और **योगीन्द्र** विशेषणों का उनके नाम के साथ स्पष्ट उल्लेख भी बतलाया गया, तब प्रेमी जी तो उस विषय में मौन हो रहे, परन्तु प्रो० साहब ने इस चर्चा को यह लिखकर लम्बा किया कि—

"मुख्तार साहब तथा न्यायाचार्य जी ने जिस आधार पर **योगीन्द्र** शब्द का उल्लेख प्रभाचन्द्रकृत स्वीकार कर लिया है, वह भी बहुत कच्चा है। उन्होंने जो कुछ उसके लिये प्रमाण दिये हैं, उनसे जान पड़ता है कि उक्त दोनों विद्वानों में से किसी एक ने भी अभी तक न प्रभाचन्द्र का कथाकोष स्वयं देखा है और न कहीं यह स्पष्ट पढ़ा या किसी से सुना कि प्रभाचन्द्रकृत कथाकोष में समन्तभद्र के लिये **योगीन्द्र** शब्द आया है। केवल प्रेमीजी ने कोई बीस वर्ष पूर्व यह लिख भेजा था कि "दोनों कथाओं में कोई विशेष फर्क नहीं है, नेमिदत्त की कथा प्रभाचन्द्र की गद्यकथा का प्रायः पूर्ण अनुवाद है।" उसी के आधार पर आज उक्त दोनों विद्वानों को यह कहने में कोई आपत्ति मालूम नहीं होती कि प्रभाचन्द्र ने भी अपने गद्य कथाकोष में स्वामी समन्तभद्र को **योगीन्द्र** रूप में उल्लेखित किया है।"

"इस पर प्रभाचन्द्र के गद्यकथाकोष को मँगाकर देखा गया और उस पर से समन्त- भद्र को 'योगी' तथा 'योगीन्द्र' बतलानेवाले जब डेढ़ दर्जन के करीब प्रमाण न्यायाचार्य जी ने अपने अन्तिम लेख में[१२५] उद्धृत किये, तब उसके उत्तर में प्रो० साहब अब अपने पिछले लेख में यह कहने बैठे हैं, जिसे वे नेमिदत्त-कथाकोष के अनुकूल पहले भी कह सकते थे, कि "कथानक में समन्तभद्र को केवल उनके कपटवेष में ही योगी या योगीन्द्र कहा है, उनके जैनवेष में कहीं भी उक्त शब्द का प्रयोग नहीं पाया जाता।" यह उत्तर भी वास्तव में कोई उत्तर नहीं है। इसे भी केवल उत्तर के लिये ही उत्तर कहा जा सकता है। क्योंकि समन्तभद्र के योग-चमत्कार को देखकर जब शिवकोटिराजा, उनका भाई शिवायन और प्रजा के बहुत से जन जैनधर्म में दीक्षित हो गये तब योगिरूप में समन्तभद्र की ख्याति तो और भी बढ़ गई होगी और वे आमतौर पर योगिराज कहलाने लगे होंगे, इसे हर कोई समझ सकता है, क्योंकि वह योगचमत्कार समन्तभद्र के साथ सम्बद्ध था, न कि उनके **पाण्डुराङ्ग-तपस्वीवाले** वेष के साथ। ऐसा भी नहीं कि पाण्डुराङ्गतपस्वी के वेषवाले ही 'योगी' कहे जाते हों, जैनवेषवाले मुनियों को योगी न कहा जाता हो। यदि ऐसा होता, तो रत्नकरण्ड के कर्ता को भी 'योगीन्द्र' विशेषण से उल्लेखित न किया जाता। वास्तव में **योगी** एक सामान्य शब्द है, जो ऋषि, मुनि, यति, तपस्वी आदिक का वाचक है, जैसा कि धनञ्जय-नाममाला के निम्न वाक्य से प्रकट है—

---

१२५. अनेकान्त/वर्ष ८/किरण १०-११/पृ. ४२०-४२१।

**ऋषिर्यतिर्मुनिर्भिक्षुस्तापसः संयतो व्रती।**
**तपस्वी संयमी योगी वर्णी साधुश्च पातु वः॥ ३॥**

"जैनसाहित्य में योगी की अपेक्षा यति, मुनि, तपस्वी जैसे शब्दों का प्रयोग अधिक पाया जाता है, जो उसके पर्याय नाम हैं। रत्नकरण्ड में भी यति, मुनि और तपस्वी शब्द योगी के लिये व्यवहृत हुए हैं। तपस्वी को आप्त तथा आगम की तरह सम्यग्दर्शन का विषयभूत पदार्थ बतलाते हुए उसका जो स्वरूप एक पद्य[१२६] में दिया है, वह खासतौर से ध्यान देने योग्य है। उसमें लिखा है कि—"जो इन्द्रियविषयों तथा इच्छाओं के वशीभूत नहीं है, आरम्भों तथा परिग्रहों से रहित है और ज्ञान, ध्यान एवं तपश्चरणों में लीन रहता है, वह तपस्वी प्रशंसनीय है।" इस लक्षण से भिन्न योगी के और कोई सींग नहीं होते। एक स्थान पर सामायिक में स्थित गृहस्थ को **चेलोपसृष्टमुनि** की तरह यतिभाव को प्राप्त हुआ लिखा है।[१२७] चेलोपसृष्टमुनि का अभिप्राय उस नग्न दिगम्बर जैन योगी से है, जो मौन-पूर्वक योग-साधना करता हुआ ध्यानमग्न हो और उस समय किसी ने उसको वस्त्र ओढ़ा दिया हो, जिसे वह अपने लिये उपसर्ग समझता है। सामायिक में स्थित वस्त्रसहित गृहस्थ को उस मुनि की उपमा देते हुए उसे जो यतिभाव (योगी के भाव) को प्राप्त हुआ लिखा है और अगले पद्य में उसे **अचलयोग** भी बतलाया है, उससे स्पष्ट जाना जाता है कि रत्नकरण्ड में भी योगी के लिये **यति** शब्द का प्रयोग किया गया है। इसके सिवाय, अकलंकदेव ने **अष्टशती (देवागम-भाष्य)** के मंगल-पद्य में आप्तमीमांसाकार स्वामी समन्तभद्र को 'यति' लिखा है,[१२८] जो सन्मार्ग में यत्नशील अथवा मन-वचन-काय के नियन्त्रणरूप योग की साधना में तत्पर योगी का वाचक है, और श्रीविद्यानन्दाचार्य ने अपनी अष्टसहस्री में उन्हें **यतिभृत्** और **यतीश** तक लिखा है,[१२९] जो दोनों ही **योगिराज** अथवा **योगीन्द्र** अर्थ के द्योतक हैं, और **यतीश** के साथ **प्रथिततर** विशेषण लगाकर तो यह भी सूचित किया गया है कि वे एक बहुत बड़े प्रसिद्ध योगिराज थे। ऐसे ही उल्लेखों को दृष्टि में रखकर **वादिराज** ने उक्त पद्य में समन्तभद्र के लिये **योगीन्द्र** विशेषण का प्रयोग किया जान पड़ता है। और इसलिये यह कहना कि 'समन्तभद्र योगी नहीं थे अथवा

---

१२६. विषयाऽऽशावशाऽतीतो निरारम्भोऽपरिग्रहः।
ज्ञान-ध्यान-तपोरक्तस्तपस्वीस प्रशस्यते॥ १०॥

१२७. सामयिके सारम्भाः परिग्रहा नैव सन्ति सर्वेऽपि।
चेलोपसृष्टमुनिरिव गृही तदा याति यतिभावम्॥ १०२॥

१२८. "येनाचार्य-समन्तभद्र-यतिना तस्मै नमः संततम्।"

१२९. "स श्रीस्वामिसमन्तभद्र-यतिभृद्-भूयाद्विभुर्भानुमान्।"
"स्वामी जीयात्स शवश्त्प्रथिततरयतीशोऽकलङ्कोरुकीर्तिः।"

योगीरूप से उनका कहीं उल्लेख नहीं' किसी तरह भी समुचित नहीं कहा जा सकता। रत्नकरण्ड की अब तक ऐसी कोई प्राचीन प्रति भी प्रो० साहब की तरफ से उपस्थित नहीं की गई, जिसमें ग्रन्थकर्ता को 'योगीन्द्र' नाम का कोई विद्वान् लिखा हो अथवा स्वामी समन्तभद्र से भिन्न दूसरा कोई समन्तभद्र उसका कर्ता है, ऐसी स्पष्ट सूचना साथ में की गई हो।'' (जै.सा.इ.वि.प्र./खं.१/पृ. ४६७-४७०)

''समन्तभद्र नाम के दूसरे छह विद्वानों की खोज करके मैंने उसे रत्नकरण्डश्रावकाचार की अपनी प्रस्तावना में आज से कोई २३ वर्ष पहले प्रकट किया था। उसके बाद से और किसी समन्तभद्र का अब तक कोई पता नहीं चला। उनमें से एक **लघु**, दूसरे **चिक्क**, तीसरे **गेरुसोप्पे**, चौथे **अभिनव**, पाँचवें **भट्टारक**, छठे **गृहस्थ** विशेषण से विशिष्ट पाये जाते हैं। उनमें से कोई भी अपने समयादिक की दृष्टि से 'रत्नकरण्ड' का कर्ता नहीं हो सकता[१३०] और इसलिये जब तक जैनसाहित्य पर से किसी ऐसे दूसरे समन्तभद्र का पता न बतलाया जाय, जो इस रत्नकरण्ड का कर्ता हो सके, तब तक 'रत्नकरण्ड' के कर्ता के लिये 'योगीन्द्र' विशेषण के प्रयोग मात्र से उसे कोरी कल्पना के आधार पर स्वामी समन्तभद्र से भिन्न किसी दूसरे समन्तभद्र की कृति नहीं कहा जा सकता।

''ऐसी वस्तुस्थिति में वादिराज के उक्त दोनों पद्यों को प्रथम पद्य के साथ स्वामि-समन्तभद्र-विषयक समझने और बतलाने में कोई भी बाधा प्रतीत नहीं होती।[१३१] प्रत्युत इसके, वादिराज के प्रायः समकालीन विद्वान् आचार्य प्रभाचन्द्र का अपनी टीका में 'रत्नकरण्ड' उपासकाध्ययन को साफ तौर पर स्वामी समन्तभद्र की कृति घोषित करना उसे पुष्ट करता है। उन्होंने अपनी टीका के केवल संधिवाक्यों में ही **समन्तभद्रस्वामि-विरचित** जैसे विशेषणों द्वारा वैसी घोषणा नहीं की, बल्कि टीका की आदि में निम्न प्रस्तावना-वाक्य द्वारा भी उसकी स्पष्ट सूचना की है—

''**श्रीसमन्तभद्रस्वामी रत्नानां रक्षणोपायभूतरत्नकरण्डकप्रख्यं सम्यग्दर्शनादिरत्नानां पालनोपायभूतं रत्नकरण्डकाख्यं शास्त्रं कर्तुकामो निर्विघ्नतः शास्त्रपरिसमाप्त्यादिकं फलमभिलषन्निष्टदेवताविशेषं नमस्कुर्वन्नाह।**''

---

१३०. देखिए , माणिकचन्द-ग्रन्थमाला में प्रकाशित रत्नकरण्डश्रावकाचार/प्रस्तावना/ पृ. ५से ९।

१३१. सन् १९१२ में तंजोर से प्रकाशित होनेवाले वादिराज के 'यशोधर-चरित' की प्रस्तावना में, टी.ए. गोपीनाथराव, एम.ए.ने भी इन तीनों पद्यों को इसी क्रम के साथ समन्तभद्रविषयक सूचित किया है। इसके सिवाय, प्रस्तुत चरित पर शुभचन्द्रकृत जो 'पंजिका' है, उसे देखकर पं० नाथूराम जी प्रेमी ने बाद को यह सूचित किया है कि उसमें भी ये तीनों पद्य समन्तभद्रविषयक माने गये हैं। और तीसरे पद्य में प्रयुक्त हुए 'योगीन्द्र' पद का अर्थ 'समन्तभद्र' ही लिखा है। इससे बाधा की जगह साधक प्रमाण की बात और भी सामने आ जाती है।

Scanned with OKEN Scanner